बलराज साहनी को

भाई बलराज,

तुम ठहरे अभिनेता और मैं खाली दर्शक। सन् १९३४ की शरद ऋतु में काश्मीर में तुम कुछ दिनों के लिए मेरी लोकगीत-यात्रा के साथी बन गये थे। फिर मैंने तुम्हें 'शाहज़ादों का ड्रिंक', 'विज़नेस मैन की डायरी' और 'वापसी दवापसी' सरीखी कहानियों के लेखक के रूप में उभरते देखा। क्या अभिनय के शौक में लेखनी से काम लेना छोड़ बैठे?

'बाजत आवे ढोल' में मेरी लेखनी का अभिनय देखिए। पर पुस्तक शुरू करने से पहले 'जुहू की चाँदनी' शीर्षक कविता प्रस्तुत कर रहा हूँ जिसमें उस रात की याद अंकित है जो पिछले दिनों बम्बई में जुहू के सागर-तट पर स्थित तुम्हारे निवास-स्थान पर गुज़ारने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सस्नेह आपका
देवेन्द्र सत्यार्थी

जुहू की चाँदनी मछुए का जाल रे
मछुए की रागिनी उदासिनी—
बच के चलो, मछलियो!
मिल के चलो, मछलियो!
मिल के फँसो, मछलियो!
आँसू-भरी डगर पर
फिसलती हैं मछलियाँ
यात्रा का अन्त कहाँ?
सुदूर काश्मीर की शरद् ऋतु—
हम से मिले तुम, जैसे युग से मिले युग
अर्चना-नृत्य की खुशी में उठीं झूम ग्राम-वीथियां
याद है वह केसर का गीत?—
'पाम्पुर के पथ पर गये मोरे बलमा
केसर के फूलों ने डालीं गलबहियाँ;
तू वहाँ, मैं यहाँ,
सुन मेरी पुकार, सुन मेरी पुकार....'
गीत की गली में आज किसका भाग्य सो गया!
लाज-लजी दुलहन का स्नेह-दीप सो गया?
जुहू की लहरों की थाप अभिशापिनी
मछुए की रागिनी उदासिनी!

चाँदनी सुहासिनी थिरक रही स्वरों के आरोह पर
मुखरित हैं गीतों की शत-शत समाधियाँ
ढोल कहे : मेरी परिक्रमा हुई पूरी
वंशी कहे : मिट गई, मिट गई सब दूरी
मित्र ! तुम सो गये ? सुनो एक गोंड गीत—
'मंडला बाज़ार में गुड़ नाहीं मिले रे
करमा गवैया का सुर नाहीं मिले रे !'
धीरे-धीरे बात बतला रही है चाँदनी
लहरों का शंखनाद तैर रहा दूर-दूर
मछुए की रागिनी है आज क्यों उदासिनी ?
गीत की गली में आज आई नृत्य-वेला
गीत का है अन्त कहाँ ?
नृत्य का है अन्त कहाँ ?
मछुए की रागिनी का अन्त कहाँ ?
मछुए के जाल पर 'भूख की' कहानियाँ
मछुआ भी मछली, मछली भी मछुआ,
कौन कहे कौन सुने, कौन रोये कौन हँसे ?
मित्र ! तुम सो गये ? सुनो एक और गीत—
'मछुए के पुत्र हुआ सिर पै धरे जाल रे !
रो रही मछरिया हाल बेहाल रे—
मछुए के पुत्र हुआ सिर पै धरे जाल रे...'
मन की दहलीज़ पर हँस रही है चाँदनी
थिरक रही चाँदनी, खटक रही चाँदनी
भीतर भी काँटा, बाहर भी काँटा !
चाँद भी काँटा, चाँदनी भी काँटा !
मित्र ! तुम सो गये ? सुनो एक और गीत—
मछुए के जाल में मछलियों का मेला !
मछुआ अकेला, पैसा न धेला !
मछुए की आँख में भूख भी उदासी भी !
मछुए की रागिनी भूखी भी, प्यासी भी !
मित्र ! तुम सो गये ?
मछुआ हो चाहे अभिनेता चलचित्र का
चाहे बनजारा संगीत गीत चित्र का
अभिनय है, अभिनय है !
दर्द-वेदना की बात, चाँद चाँदनी की रात
अभिनय है, अभिनय है !

सूची

वक्तव्य

हिन्दी में 'लोकवार्ता' शब्द अंग्रेजी 'फोकलोर' के पर्यायवाची के रूप में प्रचलित करने का श्रेय श्री कृष्णानन्द गुप्त को है; 'लोकवार्ता' नामक त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादन द्वारा उन्होंने समूचे हिन्दी जगत का ध्यान आकर्षित किया। अंग्रेजी 'फोकलोर' शब्द का इतिहास महत्वपूर्ण है—"यह शब्द सन् १८४६ में डब्ल्यु० जे० थामस ने सभ्य जातियों में मिलने वाले असंस्कृत समुदाय की प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा मूढ़ाग्रहों को अभिव्यक्त करने के लिए गढ़ा था। शब्दों के अर्थ परिभाषाओं द्वारा नहीं, प्रयोग द्वारा नियत होते हैं, और आज 'फोकलोर' के अन्तर्गत वह भी आ जाता है जिसे शुरू की परिभाषा में जानबूझ कर बाहर रखा गया था, जैसे लोकप्रिय कलाएँ और शिल्प अर्थात् कृषिजीवी जनता की भौतिक के साथ-साथ बौद्धिक संस्कृति। मुख्य रूप से टेलर, फ्रेजर तथा अन्य अंग्रेज नृविज्ञान-वेत्ताओं के कार्य के परिणामस्वरूप, जिन्होंने यूरोपीय कृषिजीवी जनता के मूढ़ाग्रहों और परम्परागत रीति-रिवाजों की व्याख्या करने के लिए तथा उन्हें समझाने के लिए निम्नस्तर में मिलने वाले साम्य के उपयोग करने की ओर ध्यान दिलाया, अंग्रेजी परम्परा में 'फोकलोर' के क्षेत्र तथा सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र की कोई सूक्ष्म सीमा निर्धारित नहीं की जाती, पर यद्यपि यह सत्य है कि उनकी विषय-सूची एक दूसरे के आर पार चली जाती है और एक की सहायता के बिना दूसरे का अनुसन्धान नहीं हो सकता, प्रयोग में साधारण प्रवृत्ति 'फोकलोर' के क्षेत्र को संकुचित अर्थ में सभ्य समाजों में मिलने वाले पिछड़े तत्वों तक ही सीमित है।"[1]

सी० एस० बर्न ने 'फोकलोर' के क्षेत्र-विस्तार का विवेचन करते हुए कहा है—"यह एक जाति-बोधक शब्द की तरह चल निकला जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा उपेक्षाकृत उन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों के अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कथाएँ, गीत

---

१. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका।

तथा लोकोक्तियाँ आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में, मानव-स्वभाव तथा मनुष्यकृत पदार्थों के सम्बन्ध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। इनके अतिरिक्त विवाह, उत्तराधिकार, बाल्य-काल तथा प्रौढ़-जीवन के रीति रिवाज तथा अनुष्ठान और त्योहार, युद्ध, आखेट, मछली-व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के रीति-रिवाज और अनुष्ठान भी इसमें आते हैं तथा धर्मगाथाएँ, उपाख्यान, लोक-कथाएँ, 'बैलेड', गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र में है। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोकवार्ता के अन्वेषक को अपनी ओर आकर्षित करती है, बल्कि वे उपचार अथवा अनुष्ठान हैं जो किसान हल को धरती जोतने के काम में लेने के समय करता है। जाल अथवा बंसी की बनावट नहीं, बल्कि वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है, पुल अथवा घर का निर्माण नहीं, बल्कि वह बलि जो उसके बनाते समय दी जाती है और उसको उपभोग में लाने वालों के विश्वास। लोकवार्ता वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, चाहे वह दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में, अथवा विशेष रूप से इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।"[1]

सत्येन्द्र जी ने वर्ग के आधार पर लोकवार्ता का वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—१. पृथ्वी और आकाश से, २. वनस्पति जगत् से, ३. पशु जगत् से, ४. मानव से, ५. मनुष्य निर्मित वस्तुओं से, ६. आत्मा तथा दूसरे जीवन से, ७. परा-मानवी व्यक्तियों से (जैसे देवताओं, देवियों तथा ऐसे ही अन्यों से), ८. शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों से, ९. जादू-टोनों से, १०. रोगों तथा स्थानों की कला से।

(२) रीति-रिवाज—१. सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ, २. व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, ३. व्यवसाय, धन्धे तथा उद्योग, ४. तिथियाँ, व्रत तथा त्योहार, ५. खेल-कूद मनोरंजन

(३) कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—१. कहानियाँ (अ) जो सच्ची समझकर कही जाती हैं, (आ) जो मनोरंजन के लिए होती हैं, २. गीत, सभी प्रकार के, ३. कहावतें तथा पहेलियाँ, ४. पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।[2]

ब्रज-साहित्य मण्डल मथुरा की ओर से सन् १९४८ में लोकवार्ता की संकलन-प्रणाली प्रकाशित की गई थी। इसमें कहा गया था कि संकलन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, संकलन-कर्ता की दृष्टि में ग्रामीणों की वाणी से उद्गारित होने वाला कोई भी भाव घृण्य अथवा अश्लील नहीं प्रतीत होना चाहिए, जो भाग संकलनकर्ता को स्वयं समझ न पड़े और जिसके सम्बन्ध में ग्रामवासी भी समाधान न दे सकें उसे विशेष सावधानी से लिपिबद्ध किया जाय। इस संकलन-प्रणाली में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिलाया गया था कि कहानी या गीत ठीक

१. C. S. Burne, *The Handbook of Folklore*, 1914, 2nd ed.

२. सत्येन्द्र, 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' पृ०, ६–७।

उस बोली में लिपिबद्ध होना चाहिए जिसमें कि कहानी सुनानेवाला या गायक बोल रहा है, और वह जिस ढंग से बोल या गा रहा है, उसी ढंग को लिखते समय कायम रखा जाय। यह भी कहा गया था कि जिस गाँव से लोकवार्त्ता की सामग्री का संकलन किया जाय उसके सम्बन्ध में ये सूचनाएँ इकट्ठी की जायं—१. गाँव का नाम वैसा क्यों रखा गया ? २. गाँव का इतिहास—उसे कब, किसने, क्यों स्थापित किया ? ३. गाँव में बसने वाली विविध जातियाँ, उनके नाम, वे कहाँ से आकर कब बसीं ? ४. गाँव में पुजने वाले विविध देवी-देवता, उनके नाम तथा परिचय और पूजा-प्रणाली।

ख्यातनामा विद्वान स्वर्गीय आर० सी० टेम्पल ने अपने अनुभव की ओर यों निर्देश किया है—

"यह कहना काफी होगा कि अपने गायक तक पहुँचने के लिए अग्रसर होने का मेरा ढंग निम्नलिखित रहा है : मैं उत्सवों में, मेलों में, दावतों में तथा शादियों और स्वाँगों और मन्दिरों में गया हूँ। सच तो यह है कि हर ऐसी जगह गया हूँ जहाँ किसी गायक के आने की सम्भावना हो सकती थी, और उन गायकों को यों राजी किया कि वे मेरे अपने लाभ के लिए भी गायें। वे मामले भी मेरे सामने हैं जिनमें ऐसे अवसरों पर झगड़े हो गये और उनसे उस गायक का पता चला जो उस अवसर पर पुरोहित का काम करा रहा था, और उसे मेरे लिए गाने को तैयार किया जा सका। और कभी-कभी स्वाँग खेलने वाले पढ़े-लिखे आदमियों को तैयार किया जा सका कि वे अपनी हस्तलिखित प्रति मुझे देखने दें। जब कभी गरमी के मौसम में घूमने वाले जोगी, मीरासी, भराई और ऐसे ही लोगों से गलियों और सड़कों पर मुलाकात हुई, उन्हें रोककर उसी वक्त उनसे सब उगलवा लिया जो वे जानते थे। कभी-कभी देशी राजाओं और सरदारों के दूतों और प्रतिनिधियों से भी मिलने और बातचीत करने का मौका मिला है—ये लोग हैं जो अपने स्वार्थ और लाभ के लिए कुछ भी करने को सदा तैयार रहते हैं—उन्हें इस सम्बन्ध में संकेत मात्र कर देने से मुझे लोकगीत प्राप्त हुए हैं। अन्त में व्यक्तिगत भेंट तथा चिट्ठी-पत्री, सफेद और काले सभी प्रकार के ऐसे व्यक्तियों से, जो सहायता कर सकते थे, लाभदायक सिद्ध हुई है..."[१]

ब्रज में किये गये लोकवार्त्ता-संकलन के सम्बन्ध में सत्येन्द्रजी लिखते हैं—"ब्रज में ग्राम-साहित्य के संकलन का जो कार्य किया जा रहा है, वह वैज्ञानिक प्रणाली पर है, फिर भी इस दिशा में केवल कागजी निर्देशों से काम नहीं चलता, मूल्यवान सामग्री पाने के लिए विशेष योग्यता की बात रहती है।"[२]

यहाँ एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो लोकवार्त्ता के महान् संकलन और अध्ययन की व्यवस्था कर सकें, वहाँ लगन और त्याग द्वारा उठाये गये व्यक्तिगत कार्य के लिए सदैव गुंजाइश रहेगी। यूरोप में भी जहाँ देश-देश में 'फोक-लोर सोसाइटी' (लोकवार्त्ता परिषद्) द्वारा कार्य हुआ है, लगनशील और धुन के पक्के विशेषज्ञों ने संकलन और अध्ययन के कार्य में सबसे अधिक योगदान दिया है।

भारत में भी लोकवार्त्ता के संकलन और अध्ययन का जितना कार्य अब तक किया गया है उसमें व्यक्तिगत रूप से किया गया कार्य उल्लेखनीय है। टेम्पल, क्रुक, चारलस ई० गोवर और ग्रियर्सन जैसे विशेषज्ञों के स्थान पर आधुनिक काल में वेरियर एलविन और डब्ल्यू० जी० आर्चर

१. आर० सी० टेम्पल, 'दि लीजेंड्स आफ दि पंजाब'।
२. सत्येन्द्र, 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ६७।

सरीखे विद्वानों ने महान कार्य कर दिखाया है। गुजरात में स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी ने और राजस्थान में स्वर्गीय सूर्यकरण पारीख ने लोकगीतों के अध्ययन में अद्भुत सफलता प्राप्त की। स्वर्गीय साने गुरुजी का नाम मराठी लोकगीतों के संरक्षक के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा; कुमारी दुर्गा भागवत ने भी इस दिशा में बहुमूल्य कार्य किया है। इसी तरह रामनरेश त्रिपाठी, रामइकबालसिंह राकेश, कृष्णदेव उपाध्याय, रामनारायण उपाध्याय, श्याम परमार, श्यामाचरण दुबे और चन्द्रभानु शर्मा सरीखे विद्वानों ने क्रमशः अवधी, मैथिली, भोजपुरी, निमाड़ी, मालवी, छत्तीसगढ़ी और बुन्देलखण्डी लोकगीतों के क्षेत्रों में बहुमूल्य कार्य कर दिखाया है। बिहार के लोकगीतों के लिए गणेश चौबे प्रयत्नशील हैं। किन्नर देश के कुछ गीतों का संकलन करने के बाद राहुल सांकृत्यायन ने 'आदि-हिन्दी की कहानियाँ और लोकगीतों'[1] में मुज़फ्फरनगर ज़िले से प्राप्त सामग्री प्रस्तुत की है। बंगाल में मनसुरुद्दीन और जसीमुद्दीन ने कार्य किया है। आसाम में प्रफुल्ल चलिहा, उड़ीसा में लक्ष्मीनारायण साहू, आन्ध्र में नेदनूरि गंगाधर्म और तामिलनाड में के० वी० जगन्नाथन ने लोकगीतों का महान् कार्य कर दिखाया है।

कुछ संस्थाओं ने भी इस महान् कार्य में भाग लिया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय का नाम सबसे पहले लिया जाना चाहिए जिसके आधीन स्वर्गीय डॉक्टर दिनेशचन्द्र सेन ने बंगला लोकगीतों के कई संकलन और अध्ययन प्रकाशित कराये। बम्बई विश्वविद्यालय के डॉक्टर गोविन्द सदाशिव घूरिये भी अपने विद्यार्थियों द्वारा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से लोकवार्त्ता का संकलन तथा अध्ययन करा रहे हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉक्टर धीरेन्द्रनाथ मजूमदार नृशास्त्रीय दृष्टिकोण से कार्य कर रहे हैं; उनकी प्रेरणा से लखनऊ में लोक-संस्कृति सभा स्थापित हो चुकी है जिसके आधीन कार्य हो रहा है।

भारत में एक केन्द्रीय लोकवार्ता-परिषद की स्थापना की जानी चाहिए। इस क्षेत्र के कार्यकर्ताओं और हितैषियों ने समय-समय पर इस आवश्यकता का अनुभव किया है। परिशिष्ट १ में ऐसी ही एक विचार-माला प्रस्तुत की गई है। भारतीय लोकवार्ता-परिषद की स्थापना से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि बिखरी हुई शक्तियों को एक मंच पर लाया जा सकेगा और नये कार्यकर्ताओं और अध्ययनशील व्यक्तियों को प्रेरणा मिल सकेगी।

इधर एक प्रवृत्ति देखने में आ रही है कि लोकवार्त्ता के विस्तृत क्षेत्र को सामने रखते हुए लोकगीतों के कार्य को कम महत्त्वपूर्ण समझा जाय। पर यों सोचना अविवेकपूर्ण होगा, क्योंकि लोकगीतों के अध्ययन का महत्त्व किसी भी तरह सामान्य अथवा क्षुद्र नहीं ठहराया जा सकता। हाँ, यह तो आवश्यक है कि लोकगीतों को केवल ऊपर से देखकर ही अध्ययन की इतिश्री न समझ ली जाय। यह नितान्त आवश्यक है कि लोकगीतों को मात्र काव्य की दृष्टि से देखने की बजाय समाजशास्त्रीय और नृशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रामाणिक सामग्री समझ कर अध्ययन का विषय बनाया जाय।

लोकगीतों के अध्ययन की दिशा में नृशास्त्र के एक विद्वान की चेतावनी महत्त्वपूर्ण है—"सम्भव है लोक-संस्कृति तथा लोक-कला के अनुसन्धान के अत्युत्साह में हम अज्ञानवश कुछ आनुषंगिक भूलों के शिकार हो जायँ। लोक-संस्कृति के छात्रों में एक आम प्रवृत्ति पाई जाती है—उपलब्ध सामग्री का अविवेकपूर्ण रीति से प्रयोग तथा प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिए उसकी

१. राहुल पुस्तक प्रतिष्ठान, अशोक राजपथ, पटना द्वारा सन् १९५१ में प्रकाशित।

खींचातानी। उसका उद्देश्य ठीक खोज नहीं, परन्तु अपने पूर्वनिश्चित मन्तव्यों की पुष्टि के लिए येन-केन प्रकारेण नई सामग्री का प्रयोग करना होता है। इस संकेत का विन्यास यहाँ केवल लोकगीतों तक ही सीमित रखें। लोकगीतों में समुदाय जीवन की आर्थिक अवस्थाओं की प्रतिच्छाया देखने तथा भौगोलिक वर्णन ढूँढने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। उदाहरण-स्वरूप एक निराशा-भरा लोकगीत अनायास ही उस प्रदेश में पड़ने वाले अकाल तथा अनावृष्टि से प्रभावित समझ लिया जाता है। यह कोई अमहत्त्वपूर्ण भूल नहीं। इस भूल के शिकार इस क्षेत्र में नव प्रविष्ट कार्यकर्त्ता ही नहीं होते, अपितु उन देशों के परिपक्व बुद्धि विद्वान भी यह गलती कर जाते हैं जहाँ इस प्रकार के अध्ययन की दृढ़ परम्परा स्थापित है। मध्यकालिक इंगलिश कविता के जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी निराशावादी विचारों पर टीका करते हुए इजरायल गोलांक लिखते हैं—'प्राचीन आंगल गीतकाव्य का प्रचलित चिह्न अत्यन्त विषादपूर्ण शोक है जो कि उत्तरी समुद्र और आकाश के अन्धकार के समान है और उसमें मूर्तिपूजक विश्वास का प्रारब्धवाद सम्मिलित है।' स्पष्ट है कि इजरायल गोलांक ऐसा विद्वान इसे अगोचर कर गया है कि किन माध्यमों में से गुजर कर इंगलिश कविता हम तक पहुँची है और उनके कौन-कौन से चिह्न इस पर अंकित हो गये हैं। प्राचीन इंगलिश कविता की पांडुलिपियाँ हमें आठवीं शती से उपलब्ध होती हैं जिस समय इनका संग्रह तथा संरक्षण धार्मिक मठों में होता था। प्रकट है कि प्रारम्भिक ईसाइयत की निराशावादिता का प्रभाव इंगलिश कविता पर अवश्य पड़ा होगा। लेकिन सर गोलांक इसको बिल्कुल नजर अन्दाज कर गये। जातिशास्त्र के निमित्त लोकगीतों की व्याख्या करने में भी यह भूल हो सकती है। इसी प्रकार निराशावादी लोकगीतों को केवल आर्थिक कठिनाइयों तथा घुमन्तू जीवन की अनिश्चितता से उत्प्रेरित समझने की भूल भी हम कर सकते हैं।"[1]

लोकगीतों के आधार पर किसी समुदाय विशेष के इतिहास-निर्माण के प्रयत्न को भी नरेशचन्द्र एक भूल मानते हैं; उनका मत यह है कि सूक्ष्म काल्पनिक सूझ के अभाव के कारण आदिम मस्तिष्क अपने चारों ओर के दृश्यमान जगत् से अधिक प्रभावित होता है और इसीलिए उसकी कविता में घटनाओं तथा दृश्य जगत् का वर्णन ही अधिक मात्रा में मिलता है। नरेशचन्द्र के कथनानुसार "जिस प्रकार जातिशास्त्र के लिए लोकगीतों का महत्त्व अधिक आँकने की भूल हो सकती है, उसी प्रकार इनके काव्य महत्त्व को कम आँकने की गलती हो सकती है।"[2] लोकगीतों की वातावरण प्रधान कविता को समझने के लिए लोक-जीवन का पूर्व परिचय अत्यन्त आवश्यक है। नरेशचन्द्र ने इस पक्ष की यों विवेचना की है—"देवर, जेठ, ससुर, मौसी, ननद आदि केवलमात्र सम्बन्ध-सूचक शब्द ही नहीं, ये एक बन्दूक के घोड़े के समान हैं जिन्हें दबाते ही भावों का पूर आ जाता है। उस जीवन की घनिष्ठताएँ, गुप्त मन्त्रणाएँ, और निकट में स्मरण हो आती हैं। उस जीवन की ईर्षा तथा स्वामिभक्ति के विचार जाग जाते हैं और एक लोकगीत, जो घर गृहस्थी की चर्चा के कारण ऊपर से उकता देने वाली पारिवारिक सम्बन्धों की तालिका प्रतीत होता है, 'वस्तुतः भावों को प्रदीप्त करने की एक महान सामर्थ्य रखता है।"[3]

१. नरेशचन्द्र, 'लोकगीतों का सांस्कृतिक महत्त्व और उसका कवित्व', प्राच्य मानव वैज्ञानिक, १९४९ का अंक, पृ० ८०-८१।
२. वही, पृ० ८३।
३. वही, पृ० ८४।

अब रहा लोकगीतों के अनुवाद का कार्य। यह नितान्त आवश्यक है कि किसी एक भाषा के सामान्य माध्यम द्वारा अनेक भाषाओं और बोलियों के लोकगीतों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपलब्ध किया जा सके। 'दि पोयट्री आफ दि ओरिएंट' (पूर्व की कविता) के लेखक इयूनिस टियेरजेन्स ने पूर्व की कविता के अनुवादकों की चार किस्में गिनाई हैं—१. वे जो मूल कविता के ताल-लय तुकान्त को जहाँ तक बन पाये अनुवाद में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं, २. वे जो अनुभव करते हैं कि मूल कविता के रूप को प्रस्तुत करने का मतलब होगा रूप को बिगाड़ना, क्योंकि इसे सुनने वाले वही कान नहीं हैं जिनके लिए इसका निर्माण हुआ था; इसलिए वे मूल के ताल-लय को अनुवाद की भाषा के अपने ताल-लय में परिणत कर देते हैं जिससे अनुवाद का ताल-लय इसके पाठकों पर वही प्रभाव डाल सके जो मूल कविता अपने पाठकों पर डालती है, ३. वे जो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मूल कविता के रूप और वस्तु-कथा दोनों के प्रति एक साथ न्याय कर सकना बहुत कम सम्भव है, वे वस्तुकथा पर दृष्टि जमाये रखते हैं और रूप को अपने हाल पर छोड़ देते हैं, ४. वे जो मूल कविता के साथ किसी भी प्रकार न्याय कर सकने से निराश होकर शंकायुक्त गद्य में मूल कविता के निश्चित अर्थ को जैसा वे देखते हैं उतारने लगते हैं।[१]

अनुवादकों के इस वर्गीकरण पर टिप्पणी करते हुए वेरियर एलविन ने भारतीय स्थिति का अवलोकन किया है।[२] चीनी कविता के ताल-लय-तुकान्त को अनुवाद में प्रस्तुत करने का प्रयत्न *लुई हैमोंड ने किया था, भारत में मैकडानल ने इससे मिलता-जुलता प्रयत्न किया,* पर अधिकांश अनुवादक दूसरी श्रेणी में आते हैं। डाक्टर और श्रीमती सेलिग मैन ने वेद्दा गीतों का अनुवाद गद्य में किया; एन० ई० पैरी ने भी लाखेर गीतों के अनुवाद में यही रास्ता अपनाया। ए० जी० शिरेफ दूसरी श्रेणी में आते हैं।

शिरेफ की 'हिन्दी फोक सौंगस' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि अनुवाद की यह पद्धति बहुत खतरनाक है जिसमें तुकान्त मिलाने के लिए 'साड़ी' का अनुवाद 'गाउन' करना पड़े और 'त यहि रन वन में' का अनुवाद 'अण्डर दि ग्रीन वुड ट्री' करना पड़े या जिसमें 'फूल' (मूर्ख) के साथ तुकान्त मिलाने के लिए 'मचिया' के लिए 'स्टूल' शब्द का प्रयोग करना पड़े।[३] एलविन ने 'फोक सौंगस आफ दि मैकल हिल्स' (भूमिका, पृ० २१) पर मेरी इस आलोचना का उल्लेख करते हुए कहा है कि सम्भवतः ग्रिफथ, आर० सी० दत्त और सर एडविन आरनल्ड की भी यही पद्धति थी।

डब्ल्यू० जी० आर्चर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अनुवाद की वही पद्धति सर्वोत्तम है जो चीनी कविता का अनुवाद करते समय आर्थर वेली ने अपनाई है। आर्थर वेली ने स्वयं कहा है—"सब से ऊपर, छवियों (इमेजज) को कविता की आत्मा मानते हुए मैं अपनी ओर से छवियाँ जोड़ने या मूल कविता की छवियों को दबाने से हट कर चला हूँ।"[४]

---

१. Eunice Tieljens, *The Poetry of the Orient*, Introduction.

२. Verrier Elwin, *Folk Songs of the Maikal Hills*, Introduction, *p. 20-26.*

३. 'दि माडर्न रिव्यू', फरवरी १९३८, पृ० १८६-८७

४. Arthur Waley, 170 *Chinese Poems*, p 19.

यहाँ मुझे यही कहना है कि जिस अनुवाद-पद्धति का मैंने अनुसरण किया है वह मूल गीत के साथ अधिक-से-अधिक न्याय करती है, मूल का ताल-लय प्रस्तुत करने का विचार छोड़कर मेरी दृष्टि मूल की वस्तुकथा पर रही है और उसे बिना बढ़ाये, बिना घटाये ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने की चेष्टा उसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से की गई है जो कविता से भी अधिक किसी प्रामाणिक लेख का अनुवाद प्रस्तुत करते समय सामने रहता है। एज़रा पौंड के कथनानुसार "कुछ चीज़ों का एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद हो सकता है, एक कला या छवि ढल सकती है अनुवाद मे; संगीत प्रायः अनुवाद में नहीं ढल पाता।" एज़रा पौंड के विचार से मैं पूरी तरह सहमत हूँ और मेरा आग्रह है कि लोकगीतों की यही अनुवाद-पद्धति अपनाई जाय जिसमें मूल गीतों के संगीत को प्रस्तुत करने का मोह छोड़कर मूल कविता की प्रत्येक छवि को हू-ब-हू उतारने का सफल प्रयत्न किया गया हो। ऐसे ही अनुवाद लोकगीतों के वैज्ञानिक अध्ययन में उपयोगी हो सकते हैं।

आधुनिक हिन्दी कवि गिरजाकुमार माथुर से इस पुस्तक का पौरोहित्य कराने के पीछे एक मात्र दृष्टिकोण यही था कि किसी तरह पाठकों के सम्मुख यह बात आ सके कि एक नवोदित कवि लोक-कविता को किस प्रकार प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार कर सकता है। परिश्रम से प्रस्तुत किये गये उनके दृष्टिकोण को पाठक समझने का यत्न करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

अपनी यह पुस्तक बलराज साहनी को समर्पित करते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। सन् १९३४ में मुझे सर्वप्रथम काश्मीर में उनका सहयोग प्राप्त हुआ था।

चित्रों के लिए मैं अवनीसेन और आन्ध्र देश के तरुण कलाकार वेलूरि राधाकृष्ण का आभारी हूँ। आवरण-चित्र नगेन भट्टाचार्य की रचना है।

लोकगीत-सम्बन्धी यात्राओं में, गीतों के संग्रह और अध्ययन में मुझे अनेक मित्रों से जो सहायता मिली उसके लिए मैं उनका चिरऋणी हूँ।

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली
१९.३.'५२

देवेन्द्र सत्यार्थी

आमुख

तुम कहते हो
समय बीत जाता है
पर नहीं
अफसोस, कि बीत जाते हैं हम
समय नहीं

(टाइम गोज़, यू से ? आह, नो
एलास टाइम स्टेज़, वी गो ।)

शिकागो के 'समय-निर्झर' (फाउन्टेन आफ टाइम) के विशाल प्रस्तर-प्रपात में आस्टिन डॉबसन के ये शब्द साकार होकर जीवन की नश्वरता और काल की अनित्यता पर निश्वास भरते जान पड़ते हैं। इसे देख कर मन में एक अजब गूढ़ याना उदासी-सी छा जाती है। एक ओर महाकाल का नैरन्तर्य और उसके प्रतीक-दर्शन, दूसरी ओर दृश्य-जगत के वैभव की असारता, ऐसा लगता है समस्त जीवन काल के ठंडे स्पर्श से सिमट कर एक प्रस्तर-मूर्ति की तरह मन में समा जायगा। फरवरी की ठंड-दबी संध्या उस दिन और भी अधिक धूमिल जान पड़ रही थी, कि उसी समय अपनी झोंक में मस्त दो नीग्रो पास से एक गीत गाते हुए निकले। अपने साथी से पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह वहाँ का एक पथ-गीत (साइड वॉक राइम) था, जिसका आशय यह था कि जीवन छोटा है और मृत्यु को आना ही है, तो फिर क्यों न प्रिय रूथ, यौवन रहते उसका रस ले लो—'लाइफ इज शार्ट, डैथ विल कम, गो इट, रूथ, व्हाइल यू आर यंग'। मैंने सोचा जीवन के तत्व इतने असार, इतने नश्वर नहीं हैं कि उनका स्मृति-चिह्न केवल निर्जीव प्रस्तर-मूर्ति की भाँति इतिहास और पुरातत्व का विषय बन कर रह जाय। दूसरी तरह मैं कहना चाहता था कि सब कुछ मिट सकता है, किन्तु जीवन के तत्वों को मिटाने में समय भी सफल नहीं हो सकता। लोक-जीवन और लोक-संस्कृति की परम्परा युग के अनुरूप बदल तो जाती है, मिटती नहीं। जनता की संस्कृति को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता, उसके तत्व वास्तविक अमरता प्राप्त करते हैं क्योंकि उनमें मिट्टी के चिरन्तन विकासमय जीवन की शक्ति होती है। जन-जीवन से उसका सीधा

सम्पर्क होने के कारण सम्बन्ध का यह सूत्र कभी भी टूटने नहीं पाता। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि जहाँ लिखित साहित्य की बहुत सी सामग्री कालांतर में इतिहास और शोध के अध्ययन तक ही सीमित रह जाती है वहाँ जनता का साहित्य अलिखित और मौखिक होते हुए भी मरता नहीं है, बल्कि वह एक स्थान से चल कर अनेक स्थानों में पहुँच जाता है, एक जबान से हजार जबान बन जाता है। और यह भी कोई आकस्मिक बात नहीं है कि लिखित साहित्य के जो कलाकार, जो गायक लोक-जीवन से घुले-मिले रहे और जिनकी वाणी जनता की वाणी बनी उनका साहित्य जीवित रह सका। वह जनता की विराट अलिखित पुस्तक पर अंकित हो सका। तुलसीदास की वाणी का अमर ग्रन्थ हर गाँव बन गया। किन्तु बिहारी या केशव जनता के अलिखित ग्रन्थ पर कभी न चढ़ सके। इसका कारण ढूँढने दूर नहीं जाना पड़ेगा। कारण यह है कि तुलसी ने जन-जीवन के सुख-दुखों को वाणी दी पर बिहारी-केशव राजमहलों की रंगीन जगमगाहट ही देखते रहे। दूसरे शब्दों में तुलसी के काव्य का वह अंश जनता मे अमर हो गया जो मानवता और लोक-भावना के उतने ही निकट था जितना शायद एक लोकगीत हो सकता है, जिसमें जनता के सीधे सच्चे विचारों की सरल अभिव्यक्ति होती है। जन-संस्कृति अनुभूति, भावना और विचार की एक अदृश्य किन्तु अमिट डोर के समान है जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को थमाती हुई चली जाती है। गीतों, नृत्यों, कथाओं, कहावतों, रीति-रिवाजों, ऋतु-पर्वों का रूप धर कर लोक संस्कृति एक अमर यात्री की तरह स्थान-स्थान पर भ्रमण करती है। भ्रमण करती है और टिक जाती है। टिक कर एक नया संसार अपने साथ बाँध कर नया रूप धर कर फिर भ्रमण करने लगती है। जीवन के समस्त पहलुओं को समेट कर वह चलती है। दर्शन, सिद्धान्त, व्यवहारगत आदर्श, नीति से ले कर प्रकृति, प्रेम, मिलन, विरह, आशोच्छ्वास, सामाजिक प्रश्न, दैनन्दिन जीवन की सामयिक समस्याओं को छूती जन-संस्कृति की यह धारा व्यक्तिगत का साधारणीकरण करती हुई चली जाती है। इसीलिए लोक-साहित्य में विशेष जनपद या समाज के व्यक्तित्व के दर्शनों के साथ ही जीवन की सामूहिकता के दर्शन होते हैं और इस अर्थ मे लोक-साहित्य एक महान 'क्लासिक' होता है। सच तो यह है कि यदि नीचों को विश्व के विराट जीवन, अनादि समय, मानव-समाज के प्रतिक्षण विकसित होते अनन्त धारा प्रवाह और उसके युगीन संघर्षों की महागाथा के संदर्भ और अनुपात में रख कर दृष्टि विस्तार से देखा जाय तो अर्थ केवल उस भावना का रहता है जो सामूहिक जीवन की चेतना से व्यक्ति के अनुभवों द्वारा निसृत होती है तथा जिसमें एक की नहीं, अनेक की भावनायें मुखरित होती हैं। एक लोकगीत सबसे पहले किसने गाया था या एक लोक-कथा सबसे पहले किसने कही थी इसका वहाँ अधिक महत्त्व या ज्ञान नहीं होता। इस से भी अधिक यह कहना उपयुक्त होगा कि वह लोकगीत या वह लोक-कथा केवल एक ने नहीं कही, एक से ले कर सामूहिक भावना के रूप में उसकी परम्परा अक्षुण्ण होती चली गई।

लोकगीतों के आदिगायकों के नाम कदाचित ही कभी सामने आते हैं। इसका कारण केवल इतना ऊपरी ही नहीं है कि उनका साहित्य लिखित या मौखिक रहा है। मूल कारण यह है कि व्यक्ति अपने को समूह में ढाल कर ही वहाँ कुछ कहता है और कह कर समूह की वाणी बन कर समूह में मिल जाता है। अपने ही देश की नहीं लगभग सभी देशों की लोकवार्ता के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है। यहाँ मुझे नीग्रो किसान के एक पुराने कथागीत (बैलेड) 'बाल वीविल सौंग' का अन्तिम चरण याद आ रहा है जिसका आशय यह है—

यदि तुम से कोई पूछे
कि यह गीत किस ने बनाया
केवल इतना कहना
कि वह एक काला किसान था
दुख के नीले रंग में रँगा
और उसका कोई घर नहीं था
उसका कोई घर नहीं था

जितना अनाम और अज्ञात इस गीत का गानेवाला है उतना ही 'धीरे बहो गंगा हम धनि उतरहि पार' का, या 'तेरे बेले की जाति बहार, मलिनिया बाग में' भोजपुरी गीत का या 'देवी के पिछवारे चंपा मौरि रयो है' बुन्देलखंडी गीत का, या अवधी गीत 'एक रोटी के पचासन हैं खिवैया, इनके जियरवा के लागनवा हजार' का। सभी के गायकों ने अपने को पीछे रख कर समाज की एक-एक भावना को सरलता से वाणी दी है। लोकगीतों की भावना जीवन के आशोच्छ्वास और निरंतर संघर्ष की सीधी सरल गूँज होती है, सरल इसलिए होती है कि वह निश्छल पारदर्शी सत्य होती है, और सत्य होती है इसलिए निरंतर वर्तमान रहती है, तथा भाव-जगत का स्पर्श करती रहती है। लोकगीतों के जिन्दा रहने का यही रहस्य है।

लोकगीत, इस प्रकार जीवन की सामूहिक चेतना का फल होते हैं, और जनता के सामाजिक प्रयोजन से निसृत होते हैं। इसलिए लोकगीतों का महत्त्व जानने के लिए उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि जानना आवश्यक हो जाता है। लोकगीतों को समझना जनता की संस्कृति और परम्परा को समझना है, साथ ही उलट कर यह भी सत्य है कि जनपरम्परा को समझने के लिए जनता और विशिष्ट जनसमाज का ज्ञान भी आवश्यक है। लोकगीतों में कौन-कौन सी सामग्री हमें उपलब्ध होती है? इतिहास की, समाज-व्यवस्था की, सामयिक संघर्षों की, जातीयता, कला, भाषा, कविता, संगीत की। उनका संग्रहीकरण किस प्रकार से हो? लोकगीतों के किन तत्वों का अध्ययन, संरक्षण और अंगीकरण किया जाय, और किस दृष्टि से, अर्थात् उन तत्वों को परखने का दृष्टिकोण या 'एप्रोच' क्या हो? मानव शास्त्रीय, ऐतिहासिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, कलावादी-सौन्दर्यवादी, सिनेमावालों की दृष्टि, या केवल संग्रहीकरण? फिर लोकगीतों पर परिमाणगत कार्य का कितना मूल्य है और गुणगत कितना और ये दोनों किस विचार से किये जायं? आज जबकि लोक-साहित्य पर काम हो रहा है तो ये कुछ मूल प्रश्न सामने आते हैं—कम-से-कम आने तो चाहियें—जिनका समाधान आवश्यक है। प्रस्तुत भूमिका में ये सारी बातें विस्तार से होंगी ही (हो जायँ तो वह भूमिका न रह कर एक पुस्तक ही होगी) या कि स्वयं इस पुस्तक में इन बातों का समावेश है ऐसा मेरा आग्रह नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि जब देवेन्द्र सत्यार्थी ने सहसा एक दिन मुझे अपनी नई पुस्तक 'बाजत आवे ढोल' दिखाते हुए कहा कि इसकी भूमिका मुझे ही लिखना होगी, तब मेरे सामने ये सारे प्रश्न तैर गये। वैसे भी देवेन्द्र सत्यार्थी का लोकगीत की तरह फैला-बिखरा रूप देख कर मेरे मन में लोकगीतों के वैज्ञानिक विश्लेषण का ख्याल उठता रहा है। लोकगीतों की भूमिका लिखने की यों तो कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लोकगीत स्वयं अपनी भूमिका होते हैं। पर एक तो यह पुस्तक लोकगीतों का संग्रह मात्र नहीं

है, उन के कई पद्यों को लेखक ने अपने अनुभव और 'टेकनीक' के सहारे भूमिका के साथ प्रस्तुत किया है, दूसरे यह कि लोकगीतों को मैं सदा से अपने जीवन के निकट समझता रहा हूँ (केवल इसलिए नहीं कि जन्म से लेकर मेरा आरंभिक जीवन गाँव में बीता या कि समय-समय पर अपने निजी अध्ययन-मनन के लिए लोकगीतों का कुछ संग्रह भी मैंने किया) बल्कि इसलिए कि मैं उन्हें काव्य की आदिप्रेरणा का महास्रोत मानता रहा हूँ, इस कारण इनके अध्ययन और विश्लेषण की वैज्ञानिक दिशाओं को इंगित करना मेरा यहाँ इष्ट है।

लोकगीतों द्वारा जन-जीवन के समस्त पक्षों के दर्शन हमें होते हैं, और उनके दर्पण में हम विशिष्ट जन-समुदाय की भावनाओं को देख सकते हैं। हर जाति या जन-समाज के अपने गीत होते हैं जिनमें उस समाज की जीवनानुभूति की अभिव्यंजना पाई जाती है। फ्रांस का एक पुराना लोकगीत इस प्रकार है—

न कोई नदी है बिना मछलियों के
न कोई पहाड़ बिना घाटियों के
न बसंत बिना नीलोफरों के
न कोई प्रेमी बिना प्रेयसी के

(पा द् रिवियेर सां पोसों
पा द् मोन्तान सॉ वेलों
पा द् प्रांतों सॉ वायलेत्
नि पा ल मां सां मैत्र्यैस)

और 'न कोई गाँव है बिना गीतों के'—मैं इतना और इस गीत में बढ़ा देना चाहता हूँ। क्योंकि गीत ही ग्राम-जीवन के संघर्ष की महान गाथा के प्रतीक हैं, समस्त जीवन की अभिव्यंजना के गेय माध्यम। इनमें गाँव का जन-जीवन गाता है, रोता है, हँसता है, खिल्ली उड़ाता है, मुँह चिढ़ाता है, व्यंग्य कसता है, प्रेम करता है, स्वच्छन्द विहार करता है, रूप-दर्शन पर रीझता और कटाक्ष करता है, ऋतु-पर्वों पर आनन्द मनाता है, अपने दुखों की शिकायत करता है, स्थानीय महाजन, मुखिया, जमींदार, लगान, कर, बेगार, रोग, सूखा, बाढ़, टिड्डी आदि कष्टों पर दाँत पीसता और हाथ मलता है, घर-खेत-खलिहान पर हर समय हर कार्य को गीतों की वाणी देता है, भूत-चुड़ैलों से ले कर देवी-देवताओं की मनौती मानता है, रिमझिम वर्षा में जीवन-रस का आह्वान करता है या फागुन में 'निबुओं की लपट' का रस लेना चाहता है तो साथ ही सामयिक समस्याओं, जातीय भावनाओं, जन-आन्दोलनों से उद्वेलित भी होता है। लोकगीतों की यही सामाजिक सामग्री है जिसका विस्तार से अध्ययन आवश्यक है।

किन्तु यह अध्ययन एकांगी दृष्टि से न हो बल्कि मुख्य रूप से इस बात का भी विचार रखा जाय कि जन-जीवन की भावनाएँ भी तत्कालीन समाज-व्यवस्था से प्रभावित होती हैं, इसलिए उनकी विचार-भावनाओं को सामाजिक अवस्था ही रूप देती है। यह बात इस से भी सिद्ध है कि लोक-गीतों का रूप समय-समय पर बदलता रहता है। वे अत्यन्त गतिवान होते हैं। और जिन

समस्याओं का समाधान हो जाता है या जो उतने तीव्र रूप में नहीं रहतीं उनका स्थान लोकगीतों में कोई अन्य वस्तु ले लेती है। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। अमेरिका में कल-कारखानों की नई लोकवार्ता पैदा हुई। हमारे यहाँ भी जहाँ पहले पति को फुसला कर ले जाने वाली 'सौत' ही होती थी वहाँ आगे चल कर वह कार्य 'रेल' पर आरोपित हो गया। 'रेलिया होइ गई मोर सवतिया, पिया के लादि लइ गई हो।' 'मुगल' का राज 'फिरंगी' का बना, निष्ठुर जवानी तक की उपमा अंग्रेज के राज से दी गई, कितने ही लोकगीत राष्ट्रीय आन्दोलन के समय 'गांधी बाबा' के नाम पर ढाल दिये गये, इत्यादि। जन-परम्परा आगे ही बढ़ती है, पीछे हटती नहीं। जिन प्रश्नों का उसके लिए कोई अर्थ या वर्तमान मूल्य नहीं रह जाता, वह तत्व छुट जाता है। इस विचार से यह कहना गलत होगा कि जन-परम्परा के सभी तत्व अमर हैं, क्योंकि ऐसे दृष्टिकोण से हम जन-परम्परा के गतिमय रूप से आँखें बन्द करते हुए केवल उसके प्राचीनत्व को ही प्रतिष्ठित करते जाने के दोषी होंगे, और ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से उन प्रतिगामी तत्वों के भी पोषक होंगे जिन्हें जनता अनजाने छोड़ती जाती है। जो लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग करके कहते हैं कि लोक-परम्परा एक रूप से चलती जाती है, वह अमर है, वह देशगत सीमाओं का उल्लंघन इसलिए कर जाती है कि 'उसकी धरती मानव का हृदय है और उसका खेत सारी दुनियाँ है' (फ्लोरेंस बाटुसफोर्ड : फोक सौंगस् आफ मैनी पीपुल्स—खंड २) एकांगी बात कहते हैं। मैं यह मानता हूँ कि लोक-परम्परा चलती चली जाती है, पर वह केवल चलती ही नहीं, विकसित हो कर अग्रसर होती है, वह देशगत सीमाओं का उल्लंघन भी इसलिए कर जाती है कि मानव की सामाजिक समस्याएं और मूल भावनाएं अब तक अधिकांश रूप में एक-सी रही हैं; वह अमर इस अर्थ में नहीं कि वह प्राचीन को साथ लिये चली आती है बल्कि इसलिए कि प्राचीन उसमें पुराने तत्व छोड़कर नए तत्व अंगीकृत करके नया बन जाता है। लोक-साहित्य का इसी ऐतिहासिक-सामाजिक दृष्टि से अध्ययन होना चाहिए कि उसमें विशिष्ट समाज या सामाजिक-अवस्था के सुख-दुख फलन-उत्पीड़न किस अंश में प्राप्त होते हैं। तभी समय विशेष में जन-जीवन की स्थिति और उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण सम्भव हो सकता है।

लोकगीतों का उचित संग्रहीकरण, अध्ययन, विश्लेषण, संरक्षण और अंगीकरण इसी सम्पूर्ण सामाजिक दृष्टि से होना चाहिए जिसकी लोकगीतों के अध्येता या संग्रहकर्ताओं से आज तक अपेक्षा है।

यह विचार सामने रखें तो स्पष्ट हो जायगा कि लोकगीतों पर कार्य किन दिशाओं में और किस प्रकार किया जाय। संग्रहीकरण में परिमाणगत और गुणगत प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए किन बातों पर विशेष महत्व दिया जाय, जिससे एक ओर तो हम लोकगीतों के श्रेष्ठ तत्वों द्वारा कला, नृत्य, संगीतादि को ताजी स्फूर्ति दे सकें और उन्हें जन-जीवन के निकट ला सकें तथा दूसरी ओर ऐतिहासिक और सामाजिक सामग्री प्राप्त करके लोक-जीवन के आज तक न लिखे गये सही इतिहास की नींव डाल सकें। लोकवार्ता के जिन तत्वों का अध्ययन और विश्लेषण आवश्यक है वे मेरे विचार से पहले तो जीवन के आनन्द और सौन्दर्य के पक्ष हैं, सामाजिक और ऐतिहासिक पक्ष, वार्तालाप-राष्ट्रीयता का पक्ष, रीति-रिवाज, [illegible], पर्व, संस्कार, लोकाचार, [illegible] कला-पक्ष, लोकगीतों में नृत्य-संगीत के तत्व, [illegible] इत्यादि आदि बातों पर विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर मन का [illegible], कथा-किंवदन्ती, या [illegible]

भावना-मूलक चीजों का संग्रहीकरण यदि हो भी तो संरक्षण हर्गिज नहीं होना चाहिए। अलग से संग्रहीकरण भी हो तो केवल यह अध्ययन करने के लिए कि किन सामाजिक या स्थानीय परिस्थितियों के कारण ऐसी गाथाएं उत्पन्न हुईं, ताकि जीवन के आमूल निर्माण में उन तमिस्र पक्षों या सामाजिक कुंठाओं (काम्प्लैक्सेज) को निर्मूल किये जाने का विशेष ध्यान रखा जा सके।

साहित्य और कला के विचार से संगीत-नृत्य काव्य में प्रयोग के लिए लोकगीतों से कितनी बहुमूल्य और नवीन सामग्री प्राप्त हो सकती है। काव्य के लिए नए उपमान, सम्बोधन, अभिव्यंजनाएं, छंद, संगीत के लिए नवीन लय और ध्वनि-पट, नृत्य के लिए नए रूप-प्रकार, प्रणाली, गठन, संकेत, गति-समावेश, अभिव्यक्ति और इन सबके साथ नए विषयों का विस्तार। इस प्रकार लोकगीतों द्वारा हमारी कला का नवोत्थान (रेनेसां) तक संभव हो सकता है।

एक और महत्वपूर्ण बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। देश के विभिन्न लोकगीतों की प्रामाणिक स्वर-लिपियां भी तैयार की जानी चाहिएं। इस दिशा में अब तक बहुत कम कार्य हुआ है। स्वर लिपियों के बिना लोकगीतों का संग्रहीकरण बहुत हद तक अधूरा ही होगा।

स्पष्ट है कि इतना विस्तृत कार्य एक व्यक्ति के बस का रोग नहीं। यह कार्य सुगठित संस्थाओं द्वारा ही संभव है, जिनकी स्थापना की जानी आवश्यक है। ऐसी संस्थाओं के अन्तर्गत, अध्ययन और शोध के विभाग अलग हों और संग्रहीकरण के अलग, जिससे विशेषज्ञ एकत्र रूप से कार्य कर सकें।

इन बातों को सामने रख कर ही लोकगीतों के कार्य में भविष्य को अग्रसर होना चाहिए।

'बाजत आवे ढोल' लोकगीतों की पृष्ठभूमि पर लिखे गए लेखक के विभिन्न अध्ययनों का संग्रह है। सत्यार्थीजी अब तक लोकगीतों पर बहुत सी पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें से मेरे विचार में 'बेला फूले आधी रात' उनका सुगठित और विस्तृत अध्ययन है। उस संग्रह में लेखक ने अधिक गहराई से लोकवार्ता की पृष्ठभूमि का कितने ही स्थलों पर विवेचन किया है, भिन्न प्रदेश या जनपद के गीतों को एक चेष्टिक भावात्मक सूत्र में पिरो कर परिगणन मात्र से वह अधिक है। प्रस्तुत पुस्तक में भी विविधता पर्याप्त है। पुस्तक में लेखक ने भारत के विभिन्न जनपदीय गीतों और उनके कुछ सामाजिक तत्वों को प्रस्तुत किया है। सत्यार्थीजी का दृष्टिकोण मुख्यतया सौन्दर्यमूलक है और जन-जीवन को उन्होंने इसी वर्णमय, स्निग्ध दृष्टि से देखा है, किन्तु इसके साथ ही स्थान-स्थान पर उनकी दृष्टि ने अन्य पक्षों को भी छुआ है। उनके लेखन की विशेषता यह है कि वे लोकगीत प्रस्तुत करते समय जिस वातावरण में उन्हों ने उसे देखा सुना था और जिस प्रकार की प्रतिक्रिया हुई थी उस अनुभव, अहसास या प्रभाव का रंजित-पट लोकगीत के आसपास बुन कर उसे प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार उनके अधिकांश प्रस्तुतीकरण प्रभाव-अध्ययन होते हैं। इसीलिए इनमें उनका व्यक्ति-स्पर्श (पर्सनल टच) कहीं खोने नहीं पाता, और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है कि कोई सहृदय व्यक्ति रंगीन शब्दों में अपनी यात्रा की कथा सुना रहा है जिसके विराम लोकगीतों के हैं, और जिनके प्रभावों की वह साथ ही विवेचना भी करता चलता है। अनातोले फ्रांस ने एक जगह लिखा है कि किसान जब अपनी कोई प्रिय वस्तु दूसरे के हाथ में सौंपता है तो कहता है कि इसे युवा-कन्या की तरह संभाल कर रखना। ज्ञात होता है सत्यार्थीजी भी लोकगीत पर कुछ इसी तरह मुग्ध हो कर उसे देखते-परखते हैं जैसे उसकी गायिका पर, इसीलिए ग्राम की यह रूपच्छटा चाहे वह प्राकृतिक हो या मानवी उनके अध्ययनों में सर्वत्र दिखाई देती

है। उसके प्रभाव व्यक्त करने के लिए वे गाँव के ताजे रंगीन उपमान भी ढूँढ निकालते हैं—

जैसे कोई कुलवधू स्नान के पश्चात् नए वस्त्र पहन कर मेले में जाने के लिए तैयार हो जाय, लोकगीतों के सरल शब्दों पर कुछ ऐसा ही रूप निखरता है—बस उन्हें ज़रा संगीत का स्पर्श चाहिए......

रात्रि के शान्त वातावरण में माहिया हवा की लहरों पर यों तैरता है जैसे कमल का फूल पानी की लहरों पर तैरता चला जाय.... —पंजाबी लोकगीतों में संगीत तत्व

किस प्रकार झूमर नाचा जाता है, गोल दायरे में, किस प्रकार लहंगे हवा की लहरों पर तैरते हैं, इसका कुछ अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। और जब गोरी का लहंगा भी उड़ेगा तो धरती की आशाएं और उमंगें उड़ेंगी, क्योंकि गोरी का लहंगा धरती से बनाया गया है। —लोकनृत्य की पृष्ठभूमि

कितने ही ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं। पुस्तक के पहले ही लेख में जिस पर पुस्तक का नामकरण हुआ है लेखक ने ढोल को जन-जीवन के उल्लास और संघर्ष का प्रतीक माना है यह लेख इस संग्रह की विविधता का भी प्रतीक है। इस लेख में भोजपुरी, मैथिली, निमाड़ी, अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, बंगला, बुन्देली, उड़िया से ले कर सन्थाल, उराँव, मुण्डा, खड़िया, बैगा, सावरा और कोंद आदि आदिवासियों के लोकगीतों तथा पहेलियों का दृश्यपट प्रस्तुत हुआ है।

यही प्रभाववादी टेकनीक लगभग दूसरे लेखों में भी प्रयुक्त किया गया है। इस पर्यवेक्षण से लेखक का यात्रा-अनुभव तो ज्ञात होता ही है और विविधता भी प्राप्त होती है, किन्तु इतने शीघ्र बदलने वाले दृश्यपट और उसके परिवर्तित वस्तु-तत्व से मन को पूरा संतोष नहीं होता। यहां सिद्धान्तरूप से एक बात कहना आवश्यक है। क्या ही अच्छा हो कि एक स्थान पर एक जनपद के एक प्रकार के गीतों की ही विस्तारपूर्वक विवेचना हो। मतलब यह कि एक जाति जनपद या समाज के लोकगीत-लोकवार्ता के अनेक पक्षों का व्यवस्थित, एकत्र रूप से अध्ययन और भी अधिक श्रेयस्कर होगा। एक जाति या जनपद में ही इतनी सामग्री हो सकती है कि उसका अध्ययन करके कितने ही पुस्तक खंड लिखे और प्रकाशित किए जा सकते हैं।

इस दृष्टि से सत्यार्थीजी के सामने आगामी कार्य कठिन और परिश्रम का अवश्य है। किन्तु यह बात भी क्या कम है कि 'बाजत आवे ढोल' संग्रहीकरण से अधिक इतर भाषा भाषी प्रान्त और जनपद के लोकगीतों को एक भावमयी पीठिका के साथ हमारे समक्ष रखती है, और इस अभाव की पूर्ति में एक चरण आगे बढ़ाती है। और यह भी ध्यान देने योग्य है कि सौन्दर्य-मूलक दृष्टि होते हुए भी उनमें जीवन के प्रति मोह, श्रद्धा और आस्था है, उसके रस और आनन्द के प्रति स्वस्थ आकर्षण है, लेखन में रंगीनी के साथ एक स्पष्ट यथार्थवादिता है, और लोकजीवन के प्रति एक सहृदय-दृष्टि है, जिन तत्वों के साथ नई समाज-चेतना को सम्मिलित कर वे निश्चय ही अधिकाधिक अग्रसर हो सकते हैं।

करौलबाग, दिल्ली
नवम्बर २३, १९५१

गिरिजाकुमार माथुर

बाजत आवे ढोल

: १ :
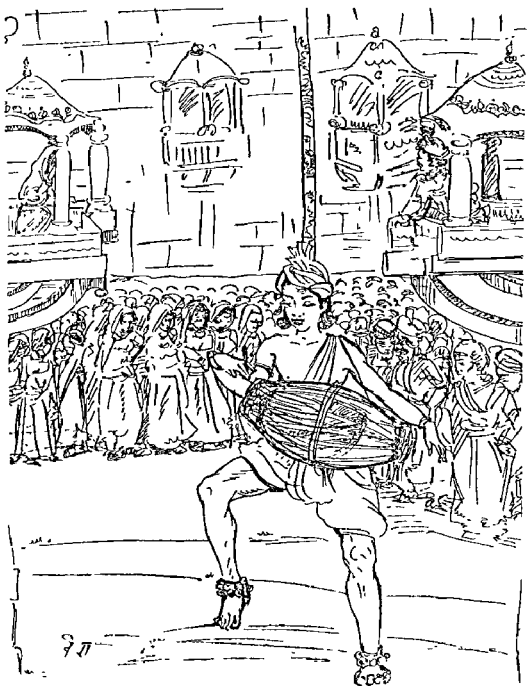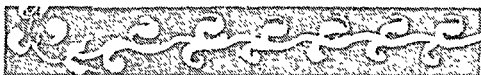
'आरे बाजत आवेला ढोल के ढमाका', भोजपुरी लोकगीत की यह उठान मुझ पर जादू-सा कर गई। भोजपुरी लोकवार्ता के प्रवेश-द्वार पर यह बोल सुनने को मिला होता तो शायद मुझ पर इसका इतना प्रभाव न पड़ता। पर उस जनपद से बहुत दूर दिल्ली की एक सड़क पर अँधेरी रात के वातावरण में सहसा गानेवाले की अवाज़ यों लहराई जैसे मछेरा जाल फेंकता है—'आरे बाजत आवेला ढोल के ढमाका, से नाचत आवेला रू बिसनी कहरवा नु हो।' पूछने पर पता चला कि गानेवाला कहार है। एक तरह से यह बुरा भी हुआ कि मैंने गानेवाले को बीच से टोक दिया। अब लाख कहने पर भी वह अपना गीत फिर से छेड़ने के लिए तैयार न हुआ। गीत के इस बोल की छवि मेरे सम्मुख साकार होकर रह गई—अरे ढोल और डफ बजता आ रहा है, साथ-साथ नाचता आ रहा है वह बिसनी कहार। मैं यह सोचने लगा कि बिसनी कहार का यह वंशज अपना गाँव छोड़ कर दिल्ली में क्यों चला आया। क्या डोली उठाने का काम एकदम चुक गया? बिसनी कहार के जीवन में आनन्द की जो धारा ढोल या डफ की आवाज़ पर लहरा उठती थी वह इस युवक के लिए कैसे सूख गई? मैंने अपने सम्मुख झट एक युक्ति उपस्थित करते हुए सोचा, यह धारा एकदम सूख गई होती तो आज इस युवक के होठों पर कँहरवा का यह बोल न थिरक उठता और वह अपने संगीत द्वारा यह चमत्कार करने में असमर्थ रहता।

यहाँ न ढोल था न डफ और न ताल पर मस्त हो कर नाचने वाला कहार। न मेरे सामने डोली उठाये चले जा रहे कहारों का दृश्य था, जिन्हें हवा पर गीत की लहरियाँ बखेर कर अपनी थकन कम करने के साथ-साथ यह ध्यान रहता है कि डोली के बीच बैठी हुई कुलवधू का जी भी लगा रहे। मैं इस बात से भी अपरिचित न था कि डोली उठाये चले जा रहे कहारों का दृश्य यातायात के नये साधनों के सम्मुख अपना रंग खो चुका है और इस अवस्था में कँहरवा गान की परम्परा भी दम तोड़ रही है। ले दे कर एक साधारण-सा युवक मेरे सामने खड़ा था जो कुछ क्षण पहले फुटपाथ पर चला आ रहा था, अपने एक गीत की हिलोर से थोड़ी प्रेरणा पाने के यत्न में संलग्न। जैसे वह गीत स्वयं उसकी नसों में बहने वाले लहू से उछल कर उसके होठों

पर आ गया था—अपना परिचय देने के लिए। जैसे कोई अभिनेता बड़ी कुशलता से रंग-मंच पर प्रकट होता है, यह कँहरवा उस कहार युवक के होठों पर आ कर थिरकने लगा था। और अफसोस, अब तो यह कँहरवा न जाने कैसे दबक कर पीछे हट गया था।

बड़ी मुश्किल से मैं इस युवक को इस बात के लिए राजी कर सका कि यदि वह अपना गीत मुझे गा कर नहीं सुना सकता तो कम-से-कम बोल कर ही लिखा दे। यह बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी कि मैं उसके गीत पर इतना दीवाना कैसे हो गया। उसका ख्याल था कि दिल्ली में उसके गीत की पूछ करने वाला कहीं नहीं मिल सकता। पहले उसने यही समझा कि मैं मजाक कर रहा हूँ। गीत की इस उठान के पीछे क्या कुछ छिपा हुआ था, इसकी प्रतीक्षा में मैं अपनी उत्सुकता को दबा कर भी तो न रख सकता था। लोग अपने रास्ते चले जा रहे थे और मैं इस युवक का रास्ता रोके खड़ा था। अँधेरे में मैं उसका गीत कैसे लिखूँगा यह बात उसके लिए और भी कौतूहल पैदा कर रही थी। आखिर हम वहाँ से हट कर बिजली के खम्भे के पास चले गये। पर जब गीत लिखाने के लिए तैयार हो कर भी कहार युवक ने भाग जाने की कोशिश की तो मुझे यों लगा जैसे पकड़ में आया हुआ कबूतर हाथ से छूट कर जा रहा हो। मुझ में इतनी शक्ति तो न थी कि इस युवक के पीछे भाग कर उसे पकड़ने में सफल हो सकता। यह खैरियत थी कि वह सचमुच भाग नहीं गया और अब के मेरी प्रार्थना का उस पर सीधा असर हुआ। साथ ही जेब से एक अठन्नी निकाल कर मैंने उसकी हथेली पर रखने की चेष्टा की। उसकी आँखों में एक चोट-सी नजर आई, जैसे वह कहना चाहता हो कि कँहरवा बिकता नहीं, गाया जाता है। मैं समझ गया। अठन्नी उसका इनाम नहीं हो सकती थी, जहाँ से निकली थी, वहीं जा टिकी। अब वह मेरा मित्र बन गया। आँखों ही आँखों में उसने पूछा—खाली लिखवा दूँ या पहले गा कर सुनाऊँ? मैंने कहा—"पहले मैं पूरा गीत लिख लूँ फिर तुम गा कर सुनाना जिससे मैं फिर से देख सकूँ कि कहीं लिखने में भूल तो नहीं हुई, और कहीं भूल हुई हो तो उसे सुधार लूँ।"

पहले उसने वह गीत बोल-बोल कर लिखाया। कई बार वह अटक जाता। गाते समय स्मृति का जो धारा-प्रवाह रहता है वह बोल कर लिखाते समय कई बार टूटता है, यह अनुभव मुझे पहले भी अनेक बार हुआ था। पूरा गीत लिखाने के बाद जब उसने इसे स्वर में बाँध कर सुनाया तो वह समूचा वातावरण मेरे सम्मुख सजीव हो उठा जिसमें इस कँहरवा ने जन्म लिया था—

आरे बाजत आवेला ढोल के ढमाका
से नाचत आवेला ऊ बिसनी कहरवा नु हो
आरे अपना महलिया से रनिया निरखे
से कतेक नाच ना उ जे नाचेला कहरवा हो
आरे अपना अटरिया से रजावा निरखे
कँहरवा सँगवा ना रनिया उढरलि जात हो
अरे एक कोस गइली दुसर कोस गइली
लागी रे गइले ना उ जे मधुरी पिअसिया हो
गोड तोर लागीला कहरा के छोकड़वा

पगरिया बेचि के ना मोहिके पनिया पिआय हो
गोड़ तोर लागीला कहरा के छोकड़वा
पगरिया बेचि के ना मोहिके लड्डुवा खिआव हो
गोड़ तोर लागीला रानी ठकुरनिया
गहनवा बेचि के ना मोहिके मधुआ पिआव हो
एक कोस गइली दुसर कोस गइली
सिखावे लगले ना कहरा अपनी अकिलिया हो
अरे खोलहू हो राजबेटी सोनवा त रूपवा
पहर रे लेहु न रनिया कंसवा पितरवा हो
आरे खोलहू रे राजबेटी लहरा पटोरवा
पहिर रे ले ताहु रनिया फटही लुगरिया हो
आरे जहुँ हम जनितो कहरा मोर बुधि हरवे
बाबा के गउएं तोहिके फंसिया दिअइतो हो

—'अरे ढोल और डफ बजता आ रहा है
साथ-साथ नाचता आ रहा है वह बिहनी कहार
अरे अपने महल से रानी देखती है
अहो ! वह कहार कितना सुन्दर नाच रहा है
अरे अपनी अटारी से राजा देखता है
कहार के साथ रानी भागी जा रही है
अरे वह एक कोस गई, दूसरे कोस गई
उसे मीठी प्यास लग आई
तेरे पैर पड़ती हूँ, ओ कहार के छोकरे
पगड़ी बेच कर मुझे पानी पिलाओ
तेरे पैर पड़ती हूँ, ओ कहार के छोकरे
पगड़ी बेच कर मुझे लड्डू खिलाओ
तेरे पैर पड़ता हूँ, ओ रानी ठकुरानी
गहने बेच कर मुझे मदिरा पिलाओ
वह एक कोस गई, दूसरे कोस गई
कहार उसे अपनी अकल सिखाने लगा
अरे यह सोना चाँदी खोल दो, ओ राजबेटी
पहन लो ना, रानी, यह कांसा और पीतल
अरे खोल दो ना, राजबेटी, यह लंहगा और रेशमी ओढ़नी
पहन लो ना, रानी, यह फटी-पुरानी धोती
अरे, यदि मैं जानती कि कहार मेरी बुद्धि हर लेगा
बाबा के गाँव में तुझे फाँसी दिला देती ।'

यह रात मेरे सम्मुख साकार हो उठती है जब मुझे पहले-पहल यह कँहरवा सुनने को मिला था। यह बिसनी कहार कौन था? कौन थी यह रानी जो बिसनी कहार के नाच पर मुग्ध हो कर—उस नाच पर मुग्ध हो कर जो ढोल और डफ के ताल पर नाचा जा रहा था—अपना महल छोड़ कर निकल भागी थी? ये प्रश्न आज भी मेरी आँखों के सामने तैरने लगते हैं। शायद यह स्त्री कोई रानी न थी, गाँव के किसी खाते-पीते घराने की कुलवधू थी। आखिर, वह बिसनी कहार के साथ क्यों निकल भागी थी? क्या यह केवल नाच का जादू था जिसने उस स्त्री को घर छोड़ने पर मजबूर किया? थोड़ा श्रेय तो ढोल और डफ को भी अवश्य मिलना चाहिए जिनके ताल पर बिसनी कहार का नाच अपना कौशल दिखा सका था।

गीत सिखानेवाले से मैं इसके बारे में अधिक पूछताछ नहीं कर सका था। उसने हँस कर इतना अवश्य कहा था कि गाँव में यह बात आज भी उतनी ही सत्य है। सोचता हूँ, लोक-गीत में बिसनी कहार और उसके साथ भाग जाने वाली रानी का पूरा चित्र क्यों नहीं अंकित किया गया। गीतकार संक्षेप में चित्र प्रस्तुत करता है जैसे ये दो-चार रेखाएं ही यथेष्ठ हों। एक कोस चलने पर, दो कोस चलने पर रानी को प्यास लगी और उसने कहार की परीक्षा लेनी चाही। कहार अपनी पगड़ी बेचने के लिए तैयार न हुआ, उसने तो उलटा यह प्रस्ताव रखा कि रानी सोने-चाँदी के गहने उतार कर उसके हवाले कर दे और उनकी बजाय कांसा और पीतल के गहने पहन ले, रेशमी लंहगा और ओढ़नी उतार कर फटी-पुरानी धोती पहन ले। आखिर इस चित्र का सन्देश क्या है? शायद गीतकार ने घर से यों ही किसी के साथ निकल भागने वाली स्त्रियों को सावधान करने की चेष्टा की है।

देश-देश के लोक-साहित्य में इस से मिलता-जुलता चित्र उपलब्ध हो सकता है। अनेक भाषाओं में इस कथानक की गूँज सुनाई देती है। विश्व-व्यापी मौखिक परम्परा में बिसनी कहार और रानी ठकुरानी की इस गाथा को पृथक् स्थान मिल सकता है, क्योंकि जिस बात ने रानी को घर छोड़ने पर मजबूर किया वह था बिसनी कहार का वह रूप जो उसे लोक-नर्तक के रंग में पेश करता है या फिर यह भी कह सकते हैं कि ढोल और डफ ने बिसनी कहार की कला में चार चाँद लगा दिये। जैसे ढोल ने रानी ठकुरानी के मन पर दस्तक दे कर कहा—ज़रा बाहर झांक कर तो देखो। हो सकता है कि रानी अपने महल में अपना रूप बांदी से अधिक न समझती हो और कई बार उसे ख्याल आया हो कि वह इस पिंजरे से उड़ जाय। इसीलिए उस दिन ढोल की आवाज़ का उस पर सीधा असर हुआ और आँख झपकने में ही उसने फैसला कर लिया कि वह इस नर्तक के साथ गाँव-गाँव घूमने का आदर्श जीवन बितायेगी। इस दृष्टि से यह गीत ढोल की विजय का प्रतीक है। गीतकार ने गीत को जिस जगह छोड़ा है वहाँ रानी के सामने से एक पर्दा उठता है। हम उसे क्रोध और निराशा के संगम पर खड़ी देखते हैं।

दिल्ली की सड़क पर अंधेरी रात में यह कँहरवा गानेवाले कहार युवक का चित्र मेरे सम्मुख सजग हो उठता है। उसका यह बोल व्यंग्य-सा कसता नजर आता है—गाँव में यह बात आज भी उतनी ही सत्य है।

सोचता हूँ रानी ठकुरानी को बिसनी कहार पर ही क्रोध नहीं आ रहा होगा, उसे उस ढोल पर भी अवश्य क्रोध आ रहा होगा जिसने उसकी बुद्धि हर ली थी। सहसा मेरे सम्मुख ढोल का चित्र उभरता है? जैसे यह ढोल कह रहा हो—मेरा कोई दोष नहीं। मैं अपनी पुकार,

कैसे रोक सकता हूँ। मैं ढोल हूँ। मेरा काम है बजना और मैं युग-युग से बजता आ रहा हूँ, जन-जीवन में साहस, विश्वास और हर्ष भरता आ रहा हूँ।

: २ :

ढोल का अस्तित्व, किसी-न-किसी रूप में, विश्व के अनेक देशों में चिरकाल से रहा है। मिस्र, असीरिया, भारत और ईरान की मूर्तिकला और चित्रकला में ढोल को भुलाया नहीं गया। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मूर्तियों और मिट्टी के खिलौनों में गले में लटका कर ढोल बजाने वाले ढोलिये का रूप इस बात की साक्षी देता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व मानव ने ढोल से काम लेना सीख लिया था।

वैदिक साहित्य में दुन्दुभि का जयघोष सुप्रसिद्ध है। दुन्दुभि या नगारा बजा कर शत्रुओं को भगाने की चेष्टा की जाती थी। दुन्दुभि को सम्बोधन करके प्रायः यह कहा जाता था कि संकट टल जाय और सभी विघ्न और आपत्तियों को दुन्दुभि की आवाज दूर खदेड़ दे।

महाभारत काल में महारास की गाथा पर कृष्ण और ब्रज की गोपियों की लीला के साथ-साथ ढोल, डफ, झाँझ और मंजीर की छाप भी नजर आती है। इस नृत्य-परम्परा ने जन-जीवन को भी अवश्य प्रभावित किया होगा।

गुप्तकालीन भारत में जहाँ हम वीणा तथा अन्य वाद्य यन्त्रों की महिमा सुनते हैं वहाँ मृदंग की आवाज भी गूँज उठती है। अजन्ता की चित्रकला में एक से अधिक प्रकार के ढोलों के दर्शन होते हैं।

जहाँ तक भारत के लोक-जीवन का सम्बन्ध है, इतना तो सत्य है कि ढोल का अस्तित्व सदैव एक शुभ लक्षण माना जाता रहा है। प्रान्त-प्रान्त में, छोटे-बड़े प्रत्येक जनपद में, अनेक भाषाओं के लोक-साहित्य में किसी-न-किसी रूप में ढोल की चर्चा सुनने को मिल जायगी। जब मानव ने सर्वप्रथम ढोल का आविष्कार किया होगा, उसकी बुद्धि अवश्य अत्यन्त पुरस्कृत रही होगी। ढोल का आविष्कार इस बात का सूचक था कि मानव ऋतु-पर्वों पर अपनी आनन्द-ध्वनि को और संकट-काल में अपने जयघोष को दूर-दूर तक पहुँचा सकता है।

गीतों में ही नहीं, ढोल की चर्चा लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों में भी मिलती है। विशेष रूप से पहेलियों के क्षेत्र में ढोल का प्रसंग बार-बार और बड़ी ही कलापूर्ण शैली में छुआ गया है।

बंगाल के वीरभूम जिले की ढोल-सम्बन्धी एक पहेली में कहा गया है—

पीठ पर आता है पीठ पर जाता है
बिना कसूर किये पीटा जाता है

बिहार की सन्थाल पहेलियों में ढोल की छवि किसी कुशल चित्रकार की याद दिलाती है जिसने दो-चार रेखाओं द्वारा हमारे देखते-देखते प्रभावपूर्ण आकृति प्रस्तुत कर दी हो—

१. एक आदमी
जो पेट टकराने पर बोलता है
२. एक अंजीर, जिसे कौवों के दो राजा भी
कभी खा नहीं सकते

३. एक आदमी की बकरी को छूओ
वह रोने लगेगी
४. जब मुर्दा बैल डकराता है
भेड़ें चिल्लाती हैं और पास आ जाती हैं
५. काला बैल डकराता है
काली गाय बोलती है
चाह डोलने लगती है

छोटा नागपुर की मुण्डा, उराँव और खड़िया पहेलियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। पहले दो मुण्डा पहेलियाँ लीजिये—

१. ऊपर की आवाज झन-झन
भीतर की आवाज भंग्-भंग्
जब सूखे शहतीर को पीटते हैं
छोटी बहनें लपक आती हैं
२. जो मारा गया
जिसकी खाल खींची गई
जिसको दफनाया गया
बोल रहा है

अब उराँव पहेलियाँ लीजिए जो चलते सिक्कों की तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती रही हैं—

१. फाँसी पर लटकाया और दफनाया हुआ
शत्रु आ रहा है
२. सूखे पेड़ को पीटते हैं
छोटी-छोटी मछलियाँ जमा हो जाती हैं
३. बाहर से सुन्दर
भीतर से खाली
४. भीतर से खाली
बाहर से विलाप करे
५. एक भूरी गाय
बीच मैदान में डकराये
६. एक लड़का
पीटने पर ही बोले
७. ऐसा चुप जो मारने पर रोये
गोदी में शोर मचाये
धरती पर चुप हो जाय

खड़िया पहेलियाँ भी मुण्डा और उराँव पहेलियों के समान ही आदिवासी संस्कृति प ढोल की छाप दिखाने में पूरी तरह सफल हुई हैं—

१. दूसरी लकड़ी
   दूसरी छाल
   उस पर बूढ़ा बन्दर नाचे
२. लाल बैल
   सुनसान जंगल में डकराये
३. बिना पेट का शेर
   जंगल में दहाड़े

मध्य प्रदेश के गोंड और बैगा भी ढोल के बिना काम नहीं चला सकते; उनके बहुत से पर्वोत्सवों पर एक साथ कई-कई ढोल बज उठते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि उनके यहाँ पहेलियों में भी ढोल की छवि मिल जाय—

१. उसे लाये और फाँसी पर चढ़ा दिया
   भीड़ जमा हो गई तो उसे पीटना शुरू कर दिया
२. उसे छूआ नहीं
   कि वह गुर्राने लगता है

ढोल-सम्बन्धी ये पहेलियाँ तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करती हैं। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि किस प्रकार एक ही वस्तु ने लोक मानस को विभिन्न प्रकार से छूने का प्रयत्न किया है। पास-पास रहने वाले आदिवासी कबीले इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि उन्होंने पहेलियों के मामले में एक दूसरे का अनुकरण करते हुए पहेलियों की एक सामान्य थाती अपनाने की बजाय प्रत्येक अवस्था में अपनी ही आँख से देखने का यत्न किया है।

लोकगीतों, लोक-कथाओं, लोकोक्तियों तथा पहेलियों में ढोल की पूरी सूची तैयार करने की योजना बनाई जाय तो विभिन्न जनपदों और भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक पुस्तकमाला की आवश्यकता पड़ेगी।

: ३ :

ढोल की आत्मकथा तो ढोल के मुख से ही सुनी जा सकती है। प्राथमिक मानव ने किस प्रकार सर्वप्रथम ढोल का आविष्कार किया, किस प्रकार उसकी आवाज पर पूरा गाँव या कबीला झूमने लगा; कबीले के उल्लास और मनोरंजन की ऐतिहासिक प्रगति में ढोल ने कितना हाथ बटाया; लोक-संस्कृति के चित्रपट पर किस प्रकार ढोल ने निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का जी खोल कर स्वागत किया; किस प्रकार सामाजिक शक्तियों की भाषा ढोल के संकेत पर नाचती रही है—यह एक लम्बी गाथा है।

प्रस्तुत अध्ययन में लोकगीतों पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया जा रहा है। ढोल की छाप कहाँ-कहाँ किस किस रूप में पड़ी है इसका अध्ययन किसी भी संस्कृति-पट की प्रकाश-रेखाओं में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

सोहर के रूप में एक मैथिली लोकगीत में जहाँ पुत्र-जन्म की खुशी में कमल, दूब और हल्दी अपने मुख से बोल उठी है वहाँ ढोल ने भी अपनी आवाज मिलाने से संकोच नहीं किया—

पुरइन कहए हम पसरब
अपने रंग पसरब हे ललना
पसरब देवकी के आँगन
अपने रंग पसरब हे
दुभिया कहए हम चतरब
अपने रंग चतरब हे ललना
चतरब देवकी के आँगन
अपने रंग चतरब हे
हरदी कहए हम रंगब
अपने रंग रंगब हे ललना
रंगबौं देवकी के चुँदरी
अपने रंग रंगब हे
बजना कहए हम बाजब
अपने रंग बाजब हे ललना
बाजब देवकी के अँगना
अपने रंग बाजब हे

—'कमल कहता है मैं फैलूँगा
अपने रंग में फैलूँगा हे ललना
फैलूँगा देवकी के आँगन में
अपने रंग में फैलूँगा हे
दूब कहती है मैं चतरूँगी
अपने रंग में चतरूँगी हे ललना
चतरूँगी देवकी के आँगन में
अपने रंग में चतरूँगी हे
हल्दी कहती है मैं रंगूँगी
अपने रंग में रंगूँगी, हे ललना
रंगूँगी देवकी की चुनरी
अपने रंग में रंगूँगी हे
ढोल कहता है मैं बजूँगा
अपने रंग में बजूँगा हे ललना
बजूँगा देवकी के आँगन में
अपने रंग में बजूँगा हे।'

मैथिली लोकगीत के विशेषज्ञ श्री रामइकबालसिंह 'राकेश' लिखते हैं—'शिशु जन्म के छठवें दिन उत्सव अपने पूरे जोबन पर होता है। उत्सव आरम्भ होने से पहले प्रसूता आंगन में लाई जाती है, जहाँ स्नानादि से निवृत्त हो वह स्वच्छ वस्त्राभूषण से सुसज्जित होती है।

...नर्तकियाँ अंगड़ाई का नक्शा बन-बन कर इस ढब से रबाब पर मुबारकबाद गाती हैं कि सुननेवाले दंग हो जाते हैं...लड़की के जन्म पर यह आनन्द की शहनाई नहीं बजती।"[1]

एक निमाड़ी लोकगीत की उठान में 'जंगी ढोल' की चर्चा किसी युद्ध-घोष के सम्बन्ध में नहीं आई, गीतकार का संकेत बड़े ढोल की ओर है जो पुत्र-जन्म की खुशी में बजाया जाता है। पति अपनी गर्भवती पत्नी को छोड़कर बाहर चला गया था। अब वह वापस आ रहा है। गाँव के समीप पहुँचते हुए उसे ढोल की आवाज सुनाई देती है और वह झट समझ जाता है कि उसकी पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया है। समूचे गीत पर उल्लास और विनोद की फुहार-सी पड़ रही है—

चतुर साहेबजी गोह्या पर आया
तो गोह्या पर सुण्यो जंगी ढोल हो
गोरी तुन काइ हो जायो
आपणा गाँम म याव हो गांड्यो
ते गुण बाजे जंगी ढोल हो
पियाजी मन काई नी जायो
चतुर साहेबजी पनघट पर आया
पनघट पर देखी पाणी रेल हो
गोरी तुन काइ हो जायो
सावन भादो को मेहुलो हो वरस्यो
ते गुण आई पाणी रेल हो
पियाजी मन काई नी जायो
चतुर साहेबजी गाँम म आया
गाँम म देखी अबीर गुलाल हो
गोरी तुन काई हो जायो
अपणा गाँम म मारुजी होलइ सी खेल्या
ते गुण उडे अबीर गुलाल हो
पियाजी मन काई नी जायो
चतुर साहेबजी सेरी म आया
सेरी म आवे आजूं वास हो
गोरी तुन काई हो जायो
आपण सासूजी को पेट हो दुखे
ते गुण आवे आजूं वास हो
पियाजी मन काई नी जायो
चतुर साहेबजी आंगणा म आया
अगणा म आवे सोंठ वास हो

---

१. रामइकबालसिंह राकेश, 'मैथिली लोकगीत', पृ० ४६।

गोरी तुन काई हो जायो
अपणा भाभीजी को माथो हो दुखे
ते गुण आवे सोंठ वास हो
पियाजी मन काई नी जायो
चतुर साहेबजी कोठड़ी म आया
हम तो हारया पियाजी तुम जीतिया
बोल्या ते वचन समालो
पियाजी हमन लाल हो जायो

—'चतुर पति गाँव की सीमा पर आया
गाँव की सीमा पर जंगी ढोल सुना
गोरी, तुमने किसे जन्म दिया ?
अपने गाँव में व्याह हो रहा है
इसलिए जंगी ढोल बजा
पियाजी, मैंने किसी को जन्म नहीं दिया
चतुर पति पनघट पर आया
पनघट पर पानी बहता देखा
गोरी, तुमने किसे जन्म दिया ?
सावन भादों का मेंह बरस गया
इसलिए बहता पानी नजर आया
पियाजी, मैंने किसी को जन्म नहीं दिया
चतुर पति गाँव में आया
अपने गाँव में अबीर गुलाल उड़ता देखा
गोरी, तुमने किसे जन्म दिया ?
अपने गाँव में, मारूजी, होली खेली गई
इसलिए अबीर गुलाल उड़ाया गया
पियाजी, मैंने किसी को जन्म नहीं दिया
चतुर पति गली में आया
गली में अजवायन की खुशबू आई
गोरी, तुमने किसे जन्म दिया ?
अपनी सास के पेट में दर्द हो रहा है
इसलिए अजवायन की खुशबू आई
पियाजी, मैंने किसी को जन्म नहीं दिया
चतुर पति आँगन में आया
आँगन में सोंठ की खुशबू आई
गोरी, तुमने किसे जन्म दिया ?

अपनी भाभी के माथे में दर्द हो रहा है
इसलिए सोंठ की खुशबू आई
पियाजी, मैंने किसी को जन्म नहीं दिया
चतुर पति कोठरी में आया
हम हार गये, पियाजी, तुम जीत गये
अब अपना दिया हुआ वचन संभालो
पियाजी, मैंने लाल को जन्म दिया।

कदाचित् पति ने घर से जाते समय पत्नी को वचन दिया था कि यदि गोरी ने लाल को जन्म दिया तो उसे बड़े-बड़े उपहार मिलेंगे। गोरी ने उस वचन की याद दिलाने के लिए अपनी बात को इतना विस्तार दिया है।

उत्तर प्रदेश के एक विवाह-गीत में जहाँ बारात के आगे-आगे ढोल और डफ बजने और झंडे के झूलने का चित्र अंकित किया गया है वहाँ दुलहन के घर की दीवारों पर दुलहन द्वारा अंकित चित्रों की ओर भी संकेत किया गया है—

बाजत आवें ढोल के ढमक्का
घुमरत आवे निसान
राम लखन दूनौं पूछत आवें
कौन जनक दरवाज
जनक दुवारे चनन बड़ रुखवा
हथिनी बाँधी सब साठ
भितिया तो उनके रे चित्र उरेहे
उहै जनक दरवाज
भितरां से निकरी हैं जनक कहारिन
हाथे घइला मुख पान रे
पनिया भरउं मैं सब के रे रजवा
बतिया न कहहुं तुम्हारि
मैं तुम से पूंछौं जनक कहारिन
किन यह चित्र उरेह
जननि सीतलदेई क व्याहन आयो
तिन यह चित्र उरेहु
उठहु न दादुलि उठहु न राजा
उठहु न कुंवर कंधाइ
ऐसी सितलदेई क हमना सो व्याहउ
करहिं चरइली का कारु।

—'डफ और ढोल बजता आ रहा है
झूलता आ रहा है झंडा

राम और लक्ष्मण दोनों पूछते आ रहे हैं
जनक का दरवाजा कौनसा है
जनक के दरवाजे पर है चन्दन का बड़ा पेड़
साठ हथिनियाँ बंधी हैं
दीवारों पर चित्र अंकित हैं
वही जनक का दरवाजा है
भीतर से निकली जनक की कहारिन
हाथ में घड़ा है मुंह में पान
मैं सब के यहाँ पानी भरती हूँ, ओ राजा
मैं तुम से यहाँ की बात नहीं कह सकती'
मैं तुम से पूछता हूँ, ओ जनक की कहारिन
ये चित्र किसने अंकित किये हैं
जिस सीता देवी को तुम ब्याहने आये हो
उसी ने अंकित किये हैं ये चित्र
उठो हे दादा, उठो हे राजा
उठो हे कुंवर कन्हाई
ऐसी सीता देवी को मुझ से ब्याहो
मैं उसका हाथ वर लूँगा !'

भित्ति-चित्रों के प्रसंग की दृष्टि से भी यह गीत महत्त्वपूर्ण है।

ब्रज में विशेष रूप से चतुर्वेदी ब्राह्मणों के विवाह में गाये जाने वाले एक गीत में, जो कन्या की विदा के अवसर पर तीसरी बरात के अन्त में गाया जाता है, ढोलिये से कहा जाता है कि वह जोर-जोर से ढोल बजाये—

ढोलियरा गह गढ़ ढोल बजाओ
नाऊको जीतौ बोलौ दे
बारीकौ जीतौ पातर दे
कुम्हराकौ जीतौ मांट दे
बाबुल जीतौ भात दे
ढोलियरा गह गढ ढोल बजाओ

—'ओ ढोलिये, जोर जोर से ढोल बजाओ
ओ नाऊ के लड़के, बरादरी वालों को बुलाते रहने में तुम जीत गये
ओ बारी[1] के लड़के, पत्तलें देने में तुम जीत गये
ओ कुम्हार के लड़के, घड़े देने में तुम जीत गये
ओ कन्या के पिता, भात देने में तुम जीत गये

---

१. पत्तल और दोने बनाने वाला।

ओ ढोलिये, जोर जोर से ढोल बजाओ !'

'सूरजजी' शीर्षक राजस्थानी लोकगीत आधुनिक दृष्टि से रंगों का गीत कहलाने योग्य है। इसकी टेक 'सहेल्यां बावल घर बाज्या ढोल' पर ऋतु-पर्वोत्सव की गहरी छाप है। उगते और अस्त होते सूर्य के रंगों का अन्तर देखने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रभात और साँझ का वातावरण एक कलाकार की सी तूलिका से अंकित किया गया है—

धोला धोला काई करो ए
धोला वन में कपास
धोला सूरजजी रो घोड़लो ए
धोला बहू रैणादे रा दाँत
उगतो उजास वरणो
आथमतो सिंदूर वरणो
गऊ ए चरण चाली
पंछीड़ा मारग चाल्या
नेम धरम सब साथ
सहेल्यां, बावल घर बाज्या ढोल
सहेल्यां, सुसरैजी घर अणंद उछाव
रातो रातो कांई करो ए
राती चुड़ले री मजीठ
रातो सूरजजी रो घोड़लो ए
रातो बहू रैणादे रा नैण
उगतो उजास वरणो
आथमतो सिंदूर वरणो
गऊ ए चरण चाली
पंछीड़ा मारग चाल्या
नेम धरम सब साथ
सहेल्यां, बावल घर बाज्या ढोल
सहेल्यां, सुसरैजी घर आणंद उछाव
कालो कालो कांई करो ए
काला वन रा तो काग
कालो सूरजजी रो घोड़लो ए
काला बहू रैणादे रा केस
उगतो उजास वरणो
आथमतो सिंदूर वरणो
गउ ए चरण चाली
पंछीड़ा मारग चाल्या

नेम धरम सब साथ
सहेल्यां, बाबल घर बाज्या ढोल
सहेल्यां, सुसरैजी घर आणंद उछाव
पीलो पीलो कांई करो ए
पीलो चिणां के री दाल
पीलो सूरजजी रो घोड़लो ए
पीलो बहू रैणादे रो चीर
उगतो उजास बरणो
आथमतो सिंदूर बरणो
गऊ ए चरण चाली
पंछीड़ा मारग चाल्या
नेम धरम सब साथ
सहेल्यां, बाबल घर बाज्या ढोल
सहेल्यां, सुसरैजी घर आणंद उछाव
हरियो हरियो कांई करो ए
हरी ए बन में री दूब
हरियो सूरजजी रो घोड़लो ए
हरी बहू रैणादे री कूख
उगतो उजास बरणो
आथमतो सिंदूर बरणो
गऊ ए चरण चाली
पंछीड़ा मारग चाल्या
नेम धरम सब साथ
सहेल्यां, बाबल घर बाज्या ढोल
सहेल्यां, सुसरैजी घर आणंद उछाव

—'धौला धौला क्या कहते हो
बन में कपास धौली है
धौला है सूरजजी का घोड़ा
धौले हैं बहू रैणादे[1] के दाँत
उगता सूरज उजले रंग का है
अस्त होता सिन्दूरी रंग का
गायें चरने चलीं
पंछी मार्ग पर चले
नेम-धर्म सब साथ है
सहेलियो, बाबुल के घर में ढोल बज रहा है

१. 'रजनी देवी' का रूपान्तर, सूर्य-पत्नी।

सहेलियो, ससुरजी के घर में आनन्दोत्सव हो रहा है
लाल लाल क्या कहते हो
लाल है चूड़े की मजीठ
लाल है सूरजजी का घोड़ा
लाल हैं बहू रैणादे के नयन
उगता सूरज उजले रंग का है
अस्त होता सिन्दूरी रंग का
गायें चरने चलीं
पंछी मार्ग पर चले
नेम धर्म सब साथ है
सहेलियो, बाबुल के घर में ढोल बज रहा है
सहेलियो, ससुरजी के घर में आनन्दोत्सव हो रहा है
काला काला क्या कहते हो
काले हैं वन के काग
काला है सूरजजी का घोड़ा
काले हैं बहू रैणादे के केश
उगता सूरज उजले रंग का है
अस्त होता सिन्दूरी रंग का
गायें चरने चलीं
पंछी मार्ग पर चले
नेम-धर्म सब साथ है
सहेलियो, बाबुल के घर में ढोल बज रहा है
सहेलियो, ससुरजी के घर में आनन्दोत्सव हो रहा है
पीला पीला क्या कहते हो
पीली है चने की दाल
पीला है सूरजजी का घोड़ा
पीला है बहू रैणादे का चीर
उगता सूरज उजले रंग का है
अस्त होता सिन्दूरी रंग का
गायें चरने चलीं
नेम धर्म सब साथ है
पंछी मार्ग पर चले
सहेलियो, बाबुल के घर में ढोल बज रहा है
सहेलियो, ससुरजी के घर में आनन्दोत्सव हो रहा है
हरा हरा क्या कहते हो
हरी है वन की दूब

हरा है सूरजजी का घोड़ा
हरी है वहू रैणादे की कोख
उगता सूरज उजले रंग का है
ग्रस्त होता सिन्दूरी रंग का
गायें चरने चलीं
पंछी मार्ग पर चले
नेम-धर्म सब साथ है
सहेलियो, बाबुल के घर में ढोल बज रहा है
सहेलियो, ससुरजी के घर में आनन्दोत्सव हो रहा है।'

होली के अवसर पर गाये जाने वाले एक राजस्थानी गीत में चंग का बखान किया गया है। बीकानेर, जोधपुर और अजमेर पर चंग की आवाज छा जाती है—

रंगीलो चंग बाजणू
म्हांरे वीरैजी मंढायो चंग बाजणू
म्हांरो रेगर मँढ के लायो ए
रंगीलो चंग बाजणू
चंग आंगलियां बाजै
चंग मूँदड़ियां बाजै
चंग पूँचे के बल बाजै ए
रंगीलो चंग बाजणू
म्हांरो वीरोजी बजावै चंग बाजणू
वॉरा साथीड़ा मिल गावै धमाल ए
रंगीलो चंग बाजणू
बाजत बाजत बो गयो
कोई गयो गयो होलेड़ी रे थान ए
रंगीलो चंग बाजणू
चंग बीकाणे बाजै
चंग जोधाणे बाजै
कोई बाजै बाजै चंग अजमेर ए
रंगीलो चंग बाजणू

—'रंगीला चंग खूब बजनेवाला है
मेरे भाई ने मढ़ाया है यह खूब बजनेवाला चंग
हमारा रेगर[1] इसे मढ़ कर लाया
रंगीला चंग खूब बजने वाला है

१. खाल रंगने वाला।

चंग उँगलियों से बजता है
चंग अँगूठी से बजता है
चंग पहुँचे से बजता है
रंगीला चंग खूब बजने वाला है
मेरा भाई खूब बजने वाला चंग बजाता है
उसके साथी मिल कर धमालें गाते हैं
रंगीला चंग खूब बजने वाला है
चंग बीकानेर में बजता है
चंग जोधपुर में बजता है
कोई बजता है बजता है अजमेर में
रंगीला चंग खूब बजता है।'

एक राजस्थानी लोकगीत, जो 'सती रानी का गीत' कहलाता है और सतियों की पूजा करते समय गाया जाता है, इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय है कि इसमें एक स्थल पर सती राणी ढोलिये के बेटे को सम्बोधन करती है। राजस्थान में सतियों के स्मारकों की कमी नहीं। इसलिए यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि राजस्थानी लोक-संगीत का छोर सती-पूजा से भी छू गया है। ढोल का बजना उतना ही आवश्यक है जितना सती-पूजा का गीत—

राणल सती ए महासती राणी, सत दे नोकर थारा जी
वडे ए बगड़ से उतरी राणी; ले गडवो हाथ जी
गडवो छिटक्यो भू पड़यो, राणी; धरती लियो ए सिलास्यो जी
एरे गाँवाँ के गोरवें, राणी, वेजो वर्ण ए कचीरा जी
मेरे सायब को वण दे मोलियो, राणी, सती माता ने दिख्खण चीरो जी
ए रे गाँवाँ के गोरवें, राणी, माटा भरया एं मजीठा जी
मेरे सायब को रंग दे मोलियो, राणी, सती माता ने दिख्खण चीरो जी
ए रे गाँवाँ के गोरवें, राणी, सोनो घड़े ए सुनारा जी
मेरे सायब को घड़ दे पूँचियो, राणी, सती माता ने नवसर हारो जी
ए रे गाँवाँ के गोरवें, राणी, पटवो पोरे छे पाटाँ जी
मेरे सायब को पो दे पूँचियो, राणी; सती माता ने नवसर हारो जी
ए रे गाँवाँ के गोरवें, राणी, लामी वधी ए खिजूरां जी
जें चढ़ सती माता जोइयो, राणी; सुरग नेड़ा घर दूराँ जी
ढोली का चढ़ ढोल दे, राणी, गढ सरवरिये री पालाँ जी
ज्यों सुणै मेरे बाप के, राणी, लाडलड़ी ननसालां जी
माय कैवे मेरी सास, राणी, सासरे कैवे बहू पीरे जी
अधबिच सती माता घर कर्यो, राणी, अपणे पुरस के सागे जी
तार्यो पीहर सासरो, राणी, तार्यो सो परवारो जी
परण्यो तार्यो आपका, राणी, कर्यो ए दूराँ दूर, वारो जी।

सती माता तेरी चूनड़ी, राणी, रंगी छै मंगलवाराँ जी
एक ज वार ज ओढियो, राणी, लीनी सवासण्याँ उतार जी
सती माता तेरो बिछिया, राणी, घड़िया छै मंगलवाराँ जी
एक ज वार ज पैरिया, राणी, लीना छै बामण्याँ उतार जी
सती माता तेरो काँचवो, राणी, सीम्यो छै मंगलवाराँ जी
एक ज वार ज पैरियो, राणी, लीनो छै ढोली के उतार जी
सती माता तेरो चुड़लो, राणी, चितर्यो छै वार सुवाराँ जी
भल पहर्यो भल तन चढयो, राणी, तप्यो छै राजीड़े रे साथ जी
मॉडा पोवत दाझियो, राणी, ज्यूँ र वास देहा जी
ज्यूँ जल निगलै माछली, राणी, ज्यूँ र वास देहा जी

—'राणल सती, महासती रानी, सत दे, हम तेरे सेवक हैं
बड़े महल से उतरी रानी हाथ में गड़वा ले कर
गड़वा छिटक कर भूमि पर गिर गया, रानी, उसे धरती ने संभाल लिया
गाँव की सीमा में, रानी, जुलाहा कपड़ा बुनता है
मेरे पति के लिए पगड़ी बुन दे, रानी सती माता के लिए दक्षिणी चीर
गाँव की सीमा में, रानी, मजीठ के घड़े भरे हैं
मेरे पति की पगड़ी रंग दे, रानी, सती माता का दक्षिणी चीर
गाँव की सीमा में, रानी, सुनार सोना घड़ता है
मेरे पति के लिए पहुँची घड़ दे, रानी, सती माता के लिए नौलड़ा हार
गाँव की सीमा में, रानी, खजूर का लम्बा पेड़ है
उस पर चढ़ कर सती माता ने देखा स्वर्ग समीप है घर दूर
ओ ढोलिये के बेटे, ढोल बजा गढ़ सरोवर की पाल पर चढ़ कर
जो मेरे बाप के यहाँ सुनाई दे, लाडली ननुहाल में भी
माँ कहती है बेटी ससुराल में है, सास कहती है बहू है पीहर में
रास्ते में अध-बीच ही सती माता ने घर बनाया, रानी, अपने पुरखाओं के साथ[1]
पीहर और ससुराल को तार दिया, रानी, सौ परिवारों को तार दिया
अपने पति को तार दिया, दूर जा कर निवास किया
सती माता, तेरी चुनरी मंगलवार को रंगी गई थी
एक ही बार ओढ़ी थी, रानी, बहन-बेटियों ने उतार ली
सती माता, तेरा बिछुआ मंगलवार को घड़ा गया था
एक ही बार पहना था, रानी, ब्राह्मणियों ने उतार लिया
सती माता, तेरी कंचुकी मंगलवार को सी गई थी
एक ही बार पहनी थी, रानी, ढोलिये के बेटे ने ले ली
सती माता, तेरा चूड़ा, किसी सुथार को चित्रित किया गया था

१. अर्थात् वह सती हो गई ।

अच्छा पहना, भली तरह तन पर चढ़ा, रानी, वह प्रियतम के साथ ही जला
रोटी पकाते समय, रानी, जैसे अंग जल जाते हैं
जैसे मछली जल को निगल जाती है, रानी, वैसे अंग जल जाते हैं।'

सती की छवि अंकित करते समय गीतकार ने लोक-कला को उसकी पूरी शक्ति के साथ प्रस्तुत किया है; गीत की अन्तिम पंक्तियाँ बड़ी जोरदार हैं।

राजस्थान में सती-पूजा की प्रथा रही है; देव-तुल्य ही सतियों की पूजा होती है। आज से कोई साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व रानी सती का जन्म अग्रवाल जालान वंश में हुआ था। झुँझणू में रानी सती की भस्म पर स्थित मन्दिर सती का स्मारक है। सती माता ने अपनी एक ही बार पहनी हुई कंचुकी ढोलिये के बेटे को क्यों दी, यह प्रश्न किस से पूछा जाय?

रंगपुर से प्राप्त एक बंगला लोकगीत में गाँव में ढोल बजने की पृष्ठभूमि पर नन्ही बहन का चित्र उभरता है जो अपने भाई से इस खुशी में दो पैसे का इनाम चाहती है—

ओ मोर दयार दादा रे
ओ मोर दिलेर दादा रे
एके पेटेर भाई हामोरा
एके हाड़ीर खावइया रे
कैमन रंगेर ढुलीर ढोल
कैमन रंगेर गान बाजना
कैमन ढाकेर तामशा रे
मोर मनटा अलमति
देरे दुइटा पाइसा रे
देरे दुइटा पाइसा रे

—'ओ मेरे दया वाले दादा
ओ मेरे दिल वाले दादा
हम एक ही पेट से जन्मे भाई हैं
एक ही हाँडी से खाने वाले हैं
ढोलिये का ढोल कितना मजेदार है
कितना मजेदार है गाना बजाना
कैसे ढंग का है तमाशा रे
दे रे दो पैसे
दे रे दो पैसे!'

बच्चों के गीतों की उस श्रेणी में भी ढोल अथवा ढक का चित्र मिल जायगा जिसे बंगला लोक-साहित्य में 'छेले भोलानो छड़ा' का नाम दिया गया है। ये वे गीत हैं जिन्हें माँ लोरियों के रूप में अपने शिशु को कंठस्थ करा देती है। इस श्रेणी का एक 'छड़ा' लीजिए—

परिन पायूर बीये
बेहारा हलो माल पोश्र ते

पालकी कांदे नीये
देखते एले शेजे गूजे
पीपरेरा माये झीये
टूणी नाचे टूपी एंटे
नैगटा इंदूर दामा पेटे
हेलिए दूलिए
फरिन वाबूर बीये
घासेर पाता लूची होलो
भाजा शिशिर घीए
व्यैंगेर छाता नीचे शवे
खेते बोशलो गीये
फरिन वाबूर बीये

—'फरिन बाबू के ब्याह पर
माल पोका[1] कहार बन गया
कन्धे पर पालकी उठा कर
देखने आईं सजधज कर
च्यौंटियों की माँ-बेटियाँ
चिड़िया नाचती है टोपी पहन के
नंगा चूहा डफ बजाता है
हिल-डुल कर
फरिन बाबू के ब्याह पर
घास के पत्ते लूची बन गये
ओस के घी में भाजी पकी
कुकुरमुत्ता के छाते के नीचे सभी
खाने बैठ गये
फरिन बाबू के ब्याह पर।'

त्रिपुरा से प्राप्त एक बंगला विवाह-गीत में ढोल वालों को यों सम्बोधन किया गया है—

वाद्य करो वाद्य करो
एमनी वाद्य करो
जेमनी सुनते मनोहर
इनाम पावे बहुतर
वाद्य करो वाद्य करो
जेमनी सुनते मनोहर

१. एक तरह का कीड़ा।

जलफानी[1] *दिवो बहुतर*
माइयार[2] *माये दिबे जलफानी*
कांसा बाजा[3] *हर*
बाद्य करो बाद्य करो
जेमनी सुनते मनोहर
बखशिश दिवो बहुतर
माइयार बाबा दिबे बखशिश
परिते तशर
बाद्य करो बाद्य करो
जेमनी सुनते मनोहर
इनाम पाबे बहुतर
बाद्य करो बाद्य करो

—'ढोल बजाओ ढोल बजाओ
ऐसे ढोल बजाओ
जैसे सुनने में मनोहर
बहुत बहुत इनाम पाओगे
ढोल बजाओ ढोल बजाओ
बहुत बहुत जलपान करायेंगे
दुलहन की माँ जलपान करायेगी
कच्ची मलाई में छौंकी हुई भाजी
ढोल बजाओ ढोल बजाओ
बहुत बहुत बखशीश देंगे
दुलहन का बाबा बखशीश देगा
पहनने को टसर[4]
ढोल बजाओ ढोल बजाओ
जैसे सुनने में मनोहर
ढोल बजाओ ढोल बजाओ।'

विवाह के अवसर पर बजनेवाले ढोल की आवाज दुलहन के अन्तस्तल में कुछ इतनी गहरी उतर जाती है कि जीवन-पर्यन्त उसकी भावनाओं से इसकी छाप किसी के उतारे नहीं उतरती। मैमनसिंह से प्राप्त एक बंगला लोकगीत में ऐसी ही किसी विरहिन की अन्तर्ज्वाला प्रस्तुत की गई है जिसे अपने विवाह पर बजनेवाला ढोल मिलन के प्रतीक के रूप में बुरी तरह सताता है—

१–३. 'जलपान', 'मैयर' और 'बाजा' के रूपान्तर

४. टसर के लिए बंगला में 'तसर' शब्द का प्रयोग हुआ है जो संस्कृत 'त्रसर' के अधिक समीप है।

ओरे ओ बन्धु, तुमि आइला ना रे
ओ कि आरे गो बन्धु, तुमि आइला न रे
काइल जे ओइसील बीआ दूलीर ढोल दीया
कैमने जाइवाम आमी दूली पाड़ा दीया
एइ भावे ते दुःखिनी मा कोन काम करिलो
जंगलाय जंगलाय दुइ नयनेर
जल ढालिया कान्दिते लागिलो
काइल जे ओइसील बीआ तेलीर तेल दीया
ऊइरा[1] जाओ रे वनेर पंखी, आमार खबर नेओं
आमार खबर नीआ तुमि पतिर आगे दैओ
कोईओ कोइओ आरे पंखी, आमार पतिर आगे
आमारे धरिया खाइलो जंगलार बाघे
नारे ओ आरे गो बन्धु, तुमि आइला ना रे
कोथाय जाइवाय कि करिवाय कतो ऊरे[2] मने
अन्तरे दिन रात्रे तोमार कथा, आमार भूरे रात्र दिने
भाद्दर मास ते आमार गासे पाकना ताल
नारी होइया जोइबन आमी रागवाम[3] कतो काल
कार्तिक मासे ते परान पति, आमार गासे ते कमला[4]
डाले डाले पाइक्कया रोइसे, होइया दला दला
केऊ चाइबो आरे आरे, केऊ चाइबो रोइया[5]
कतो काल रागवाम जोइबन, लोकेर वोइरी होइया
गैलो या कार्तिक मास भाविते भविते
आइलो जे आगुन मास देखिते देखिते
नारे ओ बन्धु, तुमि आइला ना रें
आगुन मासे जे गो नयां धानेर भात
चीरा पीडा खाइबो लोके खाइबो नाना जात
ना कि आरे ओ बन्धु तुमि आइला ना रे
गैलो ना जे आगुन मास चिन्तिते चिन्तिते
पौंप मासे जानवाइन जारे[6] ऊड़ी मूड़ी
पूला पूड़ी थोइया केवल जा रे धरबो बूड़ा बूड़ी
नारे ओ बन्धु, तुमि आइला ना रे
काइल जे ओइसील बीआ दूलीर ढोल दीया
कैमने जाइवाम आभी दूली पाड़ा दीया

१–५. 'उड़िया', 'ऊठे', 'राखीबो', 'गाछे' और 'थाकिया' के रूपान्तर ।
६. 'जाड़े' का रूपान्तर ।

—'अरे ओ बन्धु, तुम नहीं आये
यह क्या अरे ओ बन्धु, तुम नहीं आये
कल हमारा ब्याह हुआ था ढोलिये के ढोल के साथ
कैसे जाऊँगी मैं ढोलियों की गली लाँघ कर ?
इस भाव से दुःखिनी माँ ने क्या काम किया
जंगल जंगल दोनों नयनों से
आँसू बहा कर रोने लगी
कल हमारा ब्याह हुआ था तेली के तेल के साथ
कैसे जाऊँगी मैं तेलियों की गली लाँघ कर ?
उड़ता जा, रे वन के पंछी, मेरी खबर ले जाओ
मेरी खबर ले जाकर तुम पति के आगे देना
कहना, कहना, अरे ओ पंछी, हमारे पति के आगे
मुझे पकड़ कर खा गया जंगल का बाघ
अरे ओ बन्धु, तुम नहीं आये
कहाँ जाऊँगी, क्या करूँगी, मन में कितनी ही बातें उठती हैं
अन्तर में दिन-रात तुम्हारी कथा मुझे सताती है रात-दिन
भादों मास में हमारे वृक्षों पर ताल पकता है
नारी होकर अपने यौवन को कब तक रखूँगी ?
कार्तिक मास में, हे स्वामी, हमारे वृक्षों पर कमला[1]
डाल डाल पर पकी रहती हैं गुच्छों के गुच्छे
कोई मुझे पीछे से देखेगा, कोई खड़ा होकर देखेगा
किस समय तक मैं यौवन सँभाल कर रखूँगी लोगों की वैरी हो कर ?
चला गया कार्तिक मास सोचते-सोचते
आ गया अगहन मास देखते-देखते
अरे ओ बन्धु, तुम नहीं आये
अगहन मास में नये धान का भात
लोग तरह-तरह का चीड़ा और पीठा खायेंगे
यह क्या, अरे ओ बन्धु, तुम नहीं आये
अगहन मास चला गया सोचते-सोचते
पौष मास में, तुम जानते हो, कंपकंपाता जाड़ा
बच्चों को छोड़ते हुए जा घेरेगा केवल बूढ़ों-बूढ़ियों को
यह क्या, अरे ओ बन्धु, तुम नहीं आये
कल हमारा ब्याह हुआ था ढोलिये के ढोल के साथ
कैसे जाऊँगी मैं ढोलियों की गली लाँघ कर '

मानव की आशाएं और आकांक्षाएं चिरकाल से ढोल को शक्ति और प्रगति का प्रतीक

---

१. आसमिया शब्द, एक प्रकार की बड़ी नारंगी ।

मानती आई हैं। व्यक्तिगत और सामूहिक भावनाएं समान रूप से ढोल को सभ्यता और संस्कृति का प्रगति-बिन्दु स्वीकार करती रही हैं। सामाजिक शक्तियों की विकास-गाथा संगीत और नृत्य की ऋणी है और ढोलिये ने सदैव आगे बढ़कर एक उदीयमान कलाकार की तरह व्यक्ति और समाज को आशा, उल्लास और आकांक्षा के पथ पर अग्रसर होने में सहायता दी है।

: ३ :

लोक-नृत्यों का अध्ययन किया जाय तो ढोल का चेहरा सर्वत्र चमकता दिखाई देगा। सब से पहले ढोल ही आगे बढ़कर स्वागत करता है; उसकी आवाज नृत्य में रंग भरती है, जैसे माँ अपने शिशु की उँगली थामकर उसे चलना सिखाती है। लोक-नृत्यों से सम्बन्धित गीतों में ढोल की चर्चा स्वाभाविक है।

छोटा नागपुर के उराव अपने करम[1] नृत्य में बार-बार गा उठते हैं—'एक ढोल खरीद लो, लालू भाई ! यों लगेगा जैसे पत्नी मिल गई। यदि ढोल टूट गया, लालू भाई, यों लगेगा जैसे पत्नी तुम्हें छोड़ गई।'

उराँवों में ढोल का गहरा सम्बन्ध पूरे कबीले के जीवन से है, उससे कहीं गहरा सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से है, यह प्रत्यक्ष है। भादों में करम नाचा जाता है जब धान रोपने के बाद अवकाश का समय करम के ताल पर झूम-झूम उठता है, जब ढोलकी, नगाड़ा, मादर या मृदंग, गूँज उठते हैं। नृत्य के अखाड़े में करम वृक्ष की तीन टहनियाँ गाड़ दी जाती हैं जिन्हें 'करम राजा' कहते हैं। करम राजा की पूजा का प्रतीक है करम नृत्य। जंगल से करम की टहनियाँ लाते समय साथ-साथ करम नृत्य का प्रेरणामय कार्यक्रम चलता है। अखाड़े में करम राजा की स्थापना के पश्चात् रात भर करम नृत्य की धूम रहती है। अगले दिन भोर के समय मन्त्रों द्वारा करम राजा की पूजा की जाती है, करम की गाथा का उच्चारण किया जाता है। करम राजा पर फूल वारे जाते हैं, उसे दही और चावल की भेंट दी जाती है। अन्न से भरी हुई लाल टोकरियाँ करम राजा के सम्मुख रखी जाती हैं। जौ के विशेष रूप से उगाये हुए अंकुर युवकों और युवतियों में बाँटे जाते हैं जो इन्हें अपने बालों में लगा लेते हैं। पूजा के पश्चात् करम राजा को उठा लिया जाता है, इसे सिर पर उठा कर स्त्रियाँ गाँव में घूमती हैं। गाँव के मुखिया और पुजारी के द्वार पर कुछ देर के लिए रुकना आवश्यक होता है और दोनों स्थानों पर तेल और सिन्दूर लगा कर करम राजा की पूजा की जाती है, वैसे ही जैसे विवाह के अवसर पर पूजा होती है। इसके पश्चात् करम राजा को नदी पर ले जाते हैं जहाँ इसका विसर्जन कर दिया जाता है।

'अन्य सभी नृत्यों के समान करम भी वृत्ताकार नाचा जाता है। नाचने वाले युवक और युवतियाँ शुरू में दाहिने पैर उठाती हैं, फिर बायें पैर, सब एक साथ ढोल और अन्य वाद्य यन्त्रों के ताल स्वर पर नृत्य का ताल साध कर। ढोल के ताल का साथ देना हर अवस्था में आवश्यक होता है। इसी साँचे में नृत्य के प्रत्येक गीत की स्वर-लहरी को ढलना होता है। विभिन्न नृत्यों के भेद प्रायः ढोल के भिन्न ताल द्वारा ही निर्दिष्ट किये जाते हैं।'

एक सन्थाल लोकगीत में कोई युवती विवाह के पश्चात कन्या-विदा का दृश्य उपस्थित

---

१. मध्य प्रदेश के गोंडों में यही नृत्य 'करमा' के नाम से प्रसिद्ध है।

करते हुए अपने प्रेमी से प्रश्न करती है और कदाचित् स्वयं ही प्रेमी का उत्तर भी गीत में जोड़ देती है—

तिनको निदिङकान मोएँ बुरू पारमते
तोकोए बुइंहर से तुमदा तोमरूइ
तुमदा तोमरूइआँग् मांडोश लातारे
तिरियत्र नोसेडा गातिङ सामते

—'मुझे ब्याह कर ले जा रहे हैं पाँच पहाड़ों के पार
किसे देख कर तुम माँदर बजाया करोगे ?
माँदर बजायेंगे मण्डप के नीचे
बाँसुरी बजायेंगे हमजोलियों के साथ।'

सन्थाल लोकवार्ता में यह गीत 'दङ' कहलाता है, मांदर का ताल इसमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है। मांदर या मृदंग के लिए सन्थाली का शब्द है 'तुमदा'; बाँसुरी के लिए 'तिरियत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्याही जाने वाली कन्या को रोक कर रख सकना सम्भव नहीं, पर प्रेमी के पास उसकी याद तो अवश्य रह जाती है। निश्चय ही वह मण्डप वहीं रहेगा जहाँ कन्या का ब्याह हुआ, पर धरती के इस टुकड़े की छवि प्रेयसी की छवि बन जायगी।

सन्थालों का एक और 'दङ' गीत है जिसमें ब्याह कर लाई गई दुलहन पर व्यंग्य कसा गया है; ढोलिया भी व्यंग्य की लपेट में आ गया—

बुरी दिसुम रेन कड़मी कुड़ी
जंगा रिताई नाइंओं काटबंकी
एराडोम ढोल टमाक चीर चेंचर नटवा
गोच्छर जिनाउड़ी तिरल तरोप

—'पहाड़ी प्रदेश की नौकरानी लड़की है
उसके पैरों में, ओ माँ, काठ की पायल है
एरंड के हैं ढोल और डफ, जंगल के चेंचर पंछी-सा है ढोलिया
अंचल में तिरल और तरोप भेंट कर रहा है।'

अन्तिम पंक्ति में दुलहन के अंचल में दूल्हा की ओर से भेंट किये जाने वाले उपहार की ओर संकेत किया गया है; कोई गहना होना चाहिए अथवा धन। पर यहाँ तो जंगली फल तिरल और तरोप भेंट किये जा रहे हैं। गीत की भाषा में 'कुड़ी'[1] शब्द लड़की के लिए आया है।

सन्थालों के 'सोहराई' गीतों में भी बाँसुरी के साथ मांदर की आवाज गूँज उठती है—

चाल तिरियो हुदुड़ हुदुड़
मोची तुमदा सड़ंग् सडंग्

१. पंजाबी में भी 'कुड़ी' का अर्थ लड़की है।

मैरी हो, चिकातेवा वाम अंजमलेद
दानगरा कपरगरा दुआरा रे वारेंजे ताहेंकन
ओनातेगे बाइज आँडॉगलेन

—'छेदवाली बाँसुरी हुदुड़-हुदुड़ करती है
मोची का बनाया मांदर सड़ंग्-सड़ंग् करता है
प्रिये, तुम क्यों न सुन पाई ?
खेर घास और खपड़ा की छत वाले घर के द्वार पर भाई सो रहे थे
इसलिए मैं बाहर न निकली।'

अन्तिम दो पंक्तियों में कन्या का उत्तर है। मांदर की सड़ंग्-सड़ंग् ध्वनि सन्थाल लोक-गीतों में सर्वदा रंग भरती है।

उड़ीसा की सावरा जाति का एक गीत जो आदिवासी लोक-जीवन में निहित हास्य और व्यंग्य की एक महत्वपूर्ण झाँकी प्रस्तुत करता है—

किम्मेडेवन कुडाँगन एलनेतेन
वसरन आते आलिन नित्तीएतेन
पांडेरन्नाते पैस्सेंगनएतेन
मरान आते तुडुमन इग्गुलेन डेवेतेन
उंतेन अम्मेले मरान आसंका जलेगम डकू
वसरन आते आकिंडोंगन लागनेतेन आईआंले
आईआंलेंजी आम्मेले
मरान आते तुडुमन यमले डिंजुब डिंजुब लागेडेवेतेन
किम्मेडेवन आते रणांजन यमले डबुंग डबुंग गामले रेजेतेन
वसरन आते लुम्बसर लुन्बईवई गामले डेवेतेन
गुंडिजन आते नापनाप गमले आलिन तित्तीएतेन
पंडेरन आते तिरोडोई तिरोडोई परडोई लोंगे पन्नेडन पेड़ेतेन
किम्मेडेवन पैस्सेंगन एलनेतेन
वसरन आते आलिन नित्तीएतेन

—'न्योला बन गया जादूगर
घूस लगी ढोल बजाने
गलहरी ने बाँटी मदिरा
खरगोश ने बजाई तुरही
मोर ने अपने गले में मृदंग डाल कर बजाया
इसलिए मोर की गरदन लम्बी हो गई
घूस की पीठ चौड़ी हो गई

क्योंकि सभी उस पर कूद गये
मोर ने डिंडुब-डिंडुब स्वर निकाला मृदंग पकड़ कर
न्योले ने लुम्बक्कर-लुम्बई स्वर निकाला
गलहरी ने मदिरा चौंडी पकड़ो पकड़ो कहकर
खरगोश ने तिरोडोई-तिरोडोई स्वर निकाला
न्योला बन गया जादूगर
घूस बजाने लगी ढोल।'

उड़ीसा की कोंढ़ जाति के एक विवाह-गीत में ढोलिये को सम्बोधन करते हुए माँ अपनी ब्याही जाने वाली कन्या को बकरी के रूप में प्रस्तुत करती है—

देहाने सांजागिस्सी डोलाँगड़ीनू
ओ डोला वेपीनाती, ईनू एम्बे वाजानजी
नीं आंगीसका एसोनी मानूँ
आँनी आँनी पादा ऑजानूँ
नीं आम्बेसका एसोनका मानेरू
आँनी आँनी एआरू पादा तारू
देहाने साँजागिस्सी डोलांग ड़ीनू
टाँगी एम्बाड़ाई ताती ईनूँ
ओ डोला वेपीनाती, नाईं तल्ली ओडा कोगेरी मीजा
एराड़िनी आनू निप्पिसे जेडा
ईराड़िनी आहाना ओवा कोना
ईराड़िनी सेरकी त्लीपा कोना
देहाने सांजा गिस्सी डोलाँग ड़ीनू

—'बड़ी सुन्दरता से बज रहे हैं ढोल
ढोलिये, कहाँ से आये हो?
तेरी कितनी बहनें हैं?
उन के क्या-क्या नाम हैं?
तेरे कितने भाई हैं?
उनके क्या-क्या नाम हैं?
बड़ी सुन्दरता से बज रहे हैं ढोल
कहाँ से लाये हो यह तलवार!
ढोलिये, मेरी बकरी अभी बच्ची है
मैं उसे बहुत चाहती हूँ
उसे पकड़ कर न ले जाइयो
उसकी गरदन न काट डालियो
बड़ी सुन्दरता से बज रहे हैं ढोल

ब्याह में कोंढ दूल्हा तलवार लेकर आता है। पिता अपनी कन्या को तलवार देता है, जो वह दूल्हा को भेंट करती है। कोंढ परम्परा के अनुसार किसी समय यह प्रथा थी कि वर के सम्मुख कन्या भी तलवार थाम कर वीरता का परिचय दे।

कन्या विदा के एक कोंढ गीत में कन्या ढोल की आवाज़ से सतर्क होकर अपने माता-पिता से कहती है कि डाकू आ गये—

ओ आबा पाँगा तानीं डोलाँग ड़ीनूँ
ईनूँ वेंजी सिडाई गिना
मीजोरंगा वातेरू ओ आबा
माँगी आहानाँ ओ तानेरू ओ आबा
ओ आबा पाँगा तानी डोलाँगडीनू
आनूँ नीई ईडू तानीं ओ आजा
कोगेरी ताली कुहू ओ आजा
प्लाम्नू गट्टाँजूँ ताँगी आहा नत्ता सनेंजू
ओ आबा पाँगा तानी डोलाँग ड़ीनू
ईनूँ वेंजी सिडाई गिना

—'बाबा, मैदान में ढोल बज रहे हैं
सुनते नहीं हो क्या!
डाकू आ गये, ओ बाबा
वे मुझे पकड़ ले जायेंगे, ओ बाबा
बाबा, मैदान में ढोल बज रहे हैं
तुम्हारे घर में, ओ माँ
मैं एक हिरनी थी, ओ माँ
शिकारी मुझे पकड़ कर ले जायगा
माँ, मैदान मे ढोल बज रहे हैं
सुनती नहीं हो क्या!'

ढोल की आवाज़ कबीले या जनपद के हर्ष-उल्लास की प्रतीक है। पंजाब का भंगड़ा वह लोकनृत्य है जिसमें सबसे अधिक ढोल द्वारा ही सोया जादू जगाया जाता है। डग डगा डग डग डग डगा गड डग—ढोल की यह आवाज़ भंगड़ा नृत्य का ताल स्थिर करती है। ढोलिया युवक बड़े उल्लास से एक हाथ ढोल पर रखता है और दूसरा कान पर और गा उठता है—

पार झनावीं पिया दिसदाई चेला
दब्ब के डगा मार ओ शेरा
दुनिया झट्ट दा मेला

—'चनाब नदी के पार जंगल नज़र आ रहा है
ज़ोर से डागा मार, ओ शेख़
दुनिया घड़ी पल का मेला है।'

गेहूँ पकने की ऋतु में भंगड़ा[1] नाचा जाता है जब पकी हुई सुनहरी बालियाँ भी यह कहती प्रतीत होती हैं—यह अवसर तो साल में एक बार आता है जब धरती सोना उगलती है। वैशाख का आरम्भ भंगड़ा के साथ होता है और सच तो यह है कि वैशाखी का मेला भंगड़ा के ताल पर सिर धुनने लगता है। पंजाब में झुम्मर नृत्य भी ढोल का ऋणी है। भराई जाति का ढोलिया दायें हाथ में पकड़ी हुई 'नाई' या डागा को थामे रहता है, दो चोटें करता है और फिर थोड़े-थोड़े अन्तर के बाद चोटें करता है, सातवीं बार डागा ढोल को छू कर ताल में रंग भरने लगता है—दन दन तनानन तनानन तनानन तनानन दन दन। घेरे में झुम्मर नाचने वाले मस्त मलंग युवक चांदनी के साथ अठखेलियाँ करते हुए अंग लचका-लचका कर नाचते हुए घूमते हैं और बीच में खड़ा ढोलिया मौज में आकर कई बार डागा को हवा में उछालता है और बड़ी होशियारी से इसे दबोच कर फिर उसी तरह ढोल बजाने लगता है। ढोलिये का अनुभव उसे इस योग्य बना देता है कि ताल में अन्तर न आने पाये। जैसे पक्षी को उड़ने की कला पर अधिक ध्यान नहीं देना पड़ता वैसे ही झुम्मर का ढोलिया अपने धाराप्रवाह ताल पर नृत्य में रंग भरता चला जाता है।

पंजाब का एक और लोक-नृत्य है लुड्डी,[2] जिसकी एक विशेषता यह है कि इसमें गीत के लिए बिल्कुल स्थान नहीं रहता। नाच का ताल बेखुदी की सीमा तक जा पहुँचता है। लुड्डी की परम्परा बताती है कि यह नृत्य सदैव किसी विजय की खुशी में नाचा जाता था। लुड्डी के घेरे के बीच खड़ा हुआ ढोलिया यदि किसी तरह अपने ताल से चूक जाय तो घेरे में नाचने वाले इसे अपना नहीं लुड्डी का अपमान समझते हैं। लुड्डी में स्त्रियाँ सम्मिलित नहीं होतीं। घेरे में नाचने वाले युवक इस नृत्य में मौलिकता लाने का यत्न करते हुए कभी आँखों में आँखें डाल कर नाचते हैं, कभी पुतलियाँ घुमा कर और कूल्हे मटका कर, या बाँहें फैला-फैला कर कभी उछल-उछल कर कभी बैठ-बैठ कर, अर्द्ध गोलाकार या एक-एक एड़ी पर बैठ कर—जिस भी अवस्था में हो, ढोल की आवाज़ पर जान छिड़कते हुए, ढोलिये के संकेत पर लोट-पोट होते कुछ इस अन्दाज से नाचते हैं कि इस खुशी में नाचने वालों के वर्षों के बैर-भाव अथवा द्वेष दब जाते हैं। जब गाँव वाले नई दुल्हन ब्याह कर लाते हैं, लुड्डी की मजलस जम जाती है।

कुमायूँ जनपद में विवाह के अवसर पर एक गीत गाया जाता है, जिसकी उठान में ढोलक और तुरही की छवि महत्वपूर्ण स्थान रखती है—

ए छोटी छ ढोलकी लम्बी छ शब्द
लम्बी छ भोंकरी छोटी छ शब्द
उती हुँ सोगुना गैल बढ़ाई
उती हुँ सोगुना फाग मंगल
उती हुँ सोगुना रंगीलो पिठाक

१–२. भंगड़ा और लुड्डी का प्रचलन पश्चिमी पंजाब में है।

उती हुँ सोगुना दूध ज्यूनाल
उती हुँ सोगुना रैनीगयूँ क खोग
उती हुँ सोगुना जोल्या घडी जान
उती हुँ सोगुना तिमाली क पात
उती हुँ सोगुना मेरस्या ज्यूजाग
उती हुँ सोगुना जोल्या तौलभात
उती हुँ सोगुना केलारी को पात

—'छोटी है ढोलकी, लम्बा शब्द है
लम्बी है तुरही, छोटा शब्द है
शुभ मुहूर्त है ढोल का ताल
शुभ मुहूर्त है फाग मंगल[1]
शुभ मुहूर्त है रंगीला सिन्दूर
शुभ मुहूर्त है दूध और ज्यूनाल[2]
शुभ मुहूर्त है रैनो गेहूँ की पूरियां
शुभ मुहूर्त है 'जान'[3] की एक जोड़ा मटकियों के साथ
शुभ मुहूर्त है तिमाली के पत्ते
शुभ मुहूर्त है बधाइयां और आशीर्वाद
शुभ मुहूर्त है एक जोड़ा भात के मटके
शुभ मुहूर्त है केले के पत्ते[4]

कुमाउँनी भाषा का 'सोगुना' शब्द शकुन का पर्यायवाची है, विवाह, पुत्र-जन्म और गृह-प्रवेश इत्यादि शुभ मुहूर्तों पर आये हुए मेहमान दो टोलियों में बँट कर सोगुना प्रायः गाते हैं।

गढ़वाली लोकगीतों में भी ढोल की चर्चा मिल जायगी। 'हुड़की' को भी भुलाया नहीं गया जो बहुत छोटी ढोलक है। दो 'बाजूबन्द'[5] लीजिए—

ढोल को कसाणो
कित लाणी माया
सुधी नी हसणो

---

१. फाग और मंगल कुमाऊँ जनपद में विवाह तथा अन्य शुभ अवसरों पर डोम जाति के पुरुषों और स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं और इसके लिए उच्च वर्ग के लोग खुश होकर कुछ न कुछ अवश्य भेंट करते हैं। इसके अतिरिक्त ये गीत हुड़किया द्वारा भी गाये जाते हैं जिसे हम इस प्रदेश का ढोलिया कह सकते हैं, वह सदैव अपनी हुड़की के ताल पर गाता है।

२. धान, गेहूं और अन्य किसी भी अनाज का सम्मिश्रण जो देवताओं को अर्पित किया जाता है।

३. 'जान' चावल की शराब को कहते हैं।

४. केले के पत्तों पर भात परोसते हैं।

५. 'बाजूबन्द' की तीन ही पंक्तियाँ होती हैं और प्रेम गान के रूप में ही इसका प्रचलन है।

—'ढोल कसने की रस्सियाँ
या तो प्रेम करना
या व्यर्थ न हँसना !'

हुड़की को पूड़
बासी रोटी कागा लीगे
केमा साँदी गूड़

—'हुड़की का चमड़ा
बासी रोटी काग ले गया
किसमें खायगी गुड़ ?'

बंगाल में विवाह के अवसर पर कन्या-गृह में वर पक्ष के सदल बल पहुँचने से थोड़ा पूर्व कन्या को स्नान कराने के पश्चात् सुहागिनें ढोल में तेल और सिन्दूर लगाकर ढोल पूजा का शकुन आवश्यक समझती हैं। कन्या की माँ या घर की कोई अन्य स्त्री एक चित्रित सूप में धान और सिन्दूर रखती है। फिर इसे वस्त्र से ढक कर सिर पर उठा कर ढोल के समीप की स्त्रियाँ पूजा किये जाने वाले ढोल के गिर्द वृत्ताकार नृत्य में मगन हो जाती हैं। थोड़ी देर नाचने के बाद चित्रित सूप वाली स्त्री सूप का धान ढोल पर डाल कर ढोल का आशीर्वाद प्राप्त करने की प्रतीक्षा में खड़ी रहती है। ढोलिया यह धान जमीन से उठा कर सूप में डाल देता है। सूपवाली स्त्री इस प्रकार सात बार सूप का धान ढोल पर उँडेल देती है। इस क्रिया से जो धान मिट्टी पर गिरा रह जाता है उस पर सूपवाली स्त्री सूप रख देती है और फिर स्वयं इस पर बैठ जाती है। अब सभी स्त्रियाँ इस स्त्री के गिर्द वृत्ताकार खड़ी हो जाती हैं, अपने-अपने आँचल को धरती से छुआ कर उस स्त्री के सिर पर झाड़ने का यत्न करती हैं—जैसे मिट्टी में गिरे हुए धान को सँभाल कर उठाने का कर्तव्य पूरा किया जा रहा हो। फिर वे ढोल-पूजा नृत्य आरम्भ कर देती हैं और अपने साथ सूपवाली स्त्री को भी सूप सहित घुमाती हैं। इस अवसर पर कोई गीत गाने की प्रथा नहीं है। ढोलिया अवश्य अपनी कला द्वारा वातावरण पर ढोल की छाप लगा देता है।

: ४ :

बाजत आवे ढोल। यह ढोल तो बहुत पुराना है। इस ढोल की आवाज तो जानी-पहचानी है। लोक संस्कृति में दूध और शहद घोलने वाला ढोल। जन-जन के मानस में आशा और उमंग के अंकुर उत्पन्न करता रहा है यह ढोल। गलबहियाँ बद्ध होकर नाचे जाने वाले आदिवासियों के लोक-नृत्यों में प्रेरणा के स्वर भरता रहा है यह ढोल। इस पर शत-शत कंठों की काकली वारी गई। चंचल पैरों की कलामय गति ने इसके इंगित पर गीत में पंख लगा कर उड़ने का प्रयत्न किया। इसके ताल पर अतीत में परिणत होते वर्तमान ने चुस्की ली। इसके इंगित पर अग्रसर होते भविष्य ने प्रगति का आह्वान किया।

एक ओर रहा भिखारी कहार का भोजपुरी लोकगीत जो न जाने कितनी शताब्दियों की मंजिलें पार करता हुआ हमारे द्वार पर खड़ा पूछ रहा है—मेरे योग्य कोई सेवा ? दूसरी ओर एक उड़िया लोकगीत उसी से मिलता-जुलता कथानक लिए हाजिर है—

किन्नार तले तले न जा, गो नुनी
ढेंका तले तले न जा
तोर किन्ना के मोंही रसीले, नूना
तोर ढेंका के मूँ रसीले, नूना
तूही देखीले गो रजा घर भिश्रो
मूँही देखीले गो छेली माहार
तोरी माँ बापा गो सुनिला दिने
तेरी माँ बापा गो सुनिला दिने
अन्ती काढ़ी पईता करिबे, नुनी
रक्त काढ़ी पणा करिबे, नुनी
ढेंका कीनीली तीनी सौ टंका
किन्ना कीनीली पंचास टंका
ढेंकार शब्द सुनो गो नुनी
किन्नार शब्द सुनो
ए बाटे गले मों गाई घड़स
से बाटे गले मों पोड़ों घड़स
मझरी बाटे जीवा मों नुनी
मझरी बाटे जीवा
साठे हातर मोर लूगा पणत
सये हातर मोर बाल चौंरी
तौंहीरे छुचाई नेबी, गो नूना
तौंहीरे गुढ़ाई नेबी, गो नूना
तुही देखीले रजार भियो
मुंई देखीले छेली माहार
तोते मोते घड़ी नाहीं, गो नूना
तोते मोतें घड़ी नाहीं
मुई देखीले रजार भिश्रों
तुई देखीले छेली माहार
तोते मोते घड़ी हैला, गो नुनी
तोतें मोतें घड़ी हैला
गोरू दूध दुहिले हात अईंसा
छेली दूध दुहिले हात चकसा
वाली रे मांजना करो, गो नूना
धूली रे मांजना करो
किन्नार शब्द गो सरसोबती
ढेंकार शब्द गो पारोबती

ढेंका तले तले न जा, गो नुनी
किन्नार तले तले न जा

—'किन्ना'[1] के पास-पास मत जा, ओ लड़की
ढोल के पास मत जा
तुम्हारे किन्ना पर मैं मुग्ध हूँ, ओ लड़के
तुम्हारे ढोल पर मैं मुग्ध हूँ, ओ लड़के
तुमने देखी राजा की बेटी
मैंने देखा बकरियों का चरवाहा
तेरे माँ-बाप सुनेंगे जिस दिन
तेरे माँ-बाप सुनेंगे जिस दिन
अन्तड़ी निकाल कर यज्ञोपवीत बनाऊँगा, ओ लड़की
रक्त निकाल कर शरबत बनाऊँगा, ओ लड़की
ढोल खरीदा तीन सौ रुपये दे कर
किन्ना खरीदा पचास रुपये दे कर
ढोल का शब्द सुनो, ओ लड़की
किन्ना का शब्द सुनो
इस ओर चली गईं मेरी गायें
उस ओर चली गईं मेरी भैंसें
हम बीच के रास्ते पर जायँगे, ओ लड़की
बीच के रास्ते पर जायँगे
साठ हाथ की है मेरी साड़ी
सौ हाथ का है कम्बलों वाला तौलिया
उसमें मैं तुझे छिपा लूँगी, ओ लड़के
उसमें तुझे छिपा लूँगी
तुमने देखी राजा की लड़की
मैंने देखा बकरियों का चरवाहा
तेरी-मेरी बराबरी नहीं, ओ लड़के
तेरी-मेरी बराबरी नहीं
मैंने देखी राजा की लड़की
तुमने देखा बकरियों का चरवाहा
तेरी मेरी बराबरी है, ओ लड़की
तेरी मेरी बराबरी है
गाय का दूध दोहने से हाथ चिकने हो जायँगे
बकरी का दूध दोहने से हाथ चिकने हो जायँगे

---

१. एक प्रकार का बाजा ।

बालू मल कर हाथ मांज लो, श्रो लड़के
बालू मल कर हाथ मांज लो
किन्ना की श्रावाज है सरस्वती
ढोल का शब्द है पार्वती
ढोल के पास-पास मत जा, श्रो लड़की
किन्ना के पास मत जा।'

परन्तु लाख रोकने पर भी ढोल की श्रावाज सुन कर ढोल के समीप जाने के लिए गाँव की प्रत्येक कन्या का हृदय युग-युग से ललचाता रहा है। भोजपुरी लोकगीत के बिसनी कहार की तरह उड़िया गीत का चरवाहा भी किसी उच्च वर्ग की कन्या को, जो ढोल की श्रावाज सुनने के लिए घर से दूर चली श्राई थी, अपने साथ भगा ले जाने में सफल हो गया। कन्या के कानों में अपने किसी मस्त मलग गायक प्रेमी के शब्द बार-बार गूँज उठते हैं—*'किन्ना के पास-पास मत जा, श्रो लड़की; ढोल के पास मत जा।'* पर श्राज वह चरवाहे का घर देख कर भी यही मानने के लिए मजबूर है कि किन्ना की श्रावाज सरस्वती की श्रावाज है और ढोल की श्रावाज है पार्वती की श्रावाज।

यह उड़िया लोकगीत उड़ीसा में परलाकिमिडी के अन्तर्गत गुम्मा से प्राप्त हुश्रा है श्रौर कन्या के सर्वप्रथम ऋतुमती होने पर गाया जाता है। इस श्रवसर पर गाये जाने वाले गीतों में जीवन के मुक्त वातावरण के स्वर रहते हैं।

: ५ :

एक भी गाँव इतना संगीतहीन नहीं मिलेगा कि वहाँ कभी ढोल न बजा हो; एक भी श्रादमी नहीं मिलेगा जो ढोल की श्रावाज सुनकर झूम न उठा हो, जो इसे अपने हृदय में निकटतम स्थान देने से इनकार कर दे। ढोल की भाषा हर कोई समझता है; ढोल के व्यक्तित्व से हर कोई परिचित है। ढोल से दो-दो बातें करने के लिए कभी-न-कभी प्रत्येक व्यक्ति उत्सुक हो उठा होगा।

गाँव की वह कन्या, जिसने अभी-अभी लोक-नृत्य में भाग लेना शुरू किया है, गालों पर एक हंसी लिये खड़ी है। इस हंसी ने उसकी पलकों को भी छू लिया। यों लगता है जैसे उसकी कल्पना में ढोल की श्रावाज बराबर थिरक रही है। जैसे उसे अभी तक उन रंगीन क्षणों की याद श्रा रही हो जब लोक-नृत्य की मस्ती में पलकों से पलकें मिली थीं। इस कन्या का मानसिक निखार बहुत हद तक लोक-संगीत का ऋणी है। उसकी महत्त्वाकांक्षा सर्वप्रथम लोक-संगीत में ही अपनी पूर्ति देखती है। लोक-संगीत में ही वह बहुमौलिक संस्कृति की चिन्तन चेतना का अनुभव करती है। उसकी वेश-भूषा पर भी लोक-संगीत का प्रभाव स्पष्ट है। यदि यह सत्य है कि हमारा लोक-संगीत मानव-संस्कृति का प्रगति-प्रतीक है तो यह भी सत्य है कि गाँव की इस कन्या का दृष्टिकोण होश संभालने के पश्चात लोक-संगीत के साँचे में ही ढलता आया है। यह कन्या हर नये-पुराने गीत को समझने का यत्न करती है; कितनी ममता से, कितने दुलार से वह उस गीत के बोल गुनगुनाती है जो उसके हृदय को छूता है। जैसे ढोल इस कन्या से भी आगे बढ़कर नवजात गीत का स्वागत करता है—हर गीत का स्वागत जो देश के वन-नदी-पर्वत का अभिनन्दन करता है, जो गाँव की मिट्टी को बड़े दुलार से छूता है,जैसे माँ लोरी गाती है।

कभी यों भी होता है कि ढोल की भाषा जैसे सो-सी जाती है। उस अवस्था में ढोल की पूजा करनी होती है, ढोल को जगाना होता है। एक उड़िया लोकगीत में ढोल के प्रति यों पूजा-भाव व्यक्त किया गया है—

घूमुरा रे नाहीं नाद
घूमुरा कु देवी छना प्रसाद
घूमुरा गो करो नाद

— 'ढोल में नाद नहीं
ढोल को छना प्रसाद दूँगा
ओ ढोल, नाद करो।'

ढोल का आह्वान करने वाले गीतों की श्रेणी में यह उड़िया गीत महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकता है।

बचपन में सुनी हुई ढोल सम्बन्धी पंजाबी पहेली मेरी कल्पना को छू-छू जाती है—

सज्जे चन्न
खब्बे सूरज
विच्चों गोगड़
चुक्क ओ, इन्द्र राजिया
दो हत्थ विखा

—'दायें सूरज
बायें चाँद
बीच से पेट फूला हुआ
इसे उठाओ, इन्द्र राजा
दो हाथ दिखाओ।'

या फिर विवाह के अवसर पर दुलहन की सहेलियों द्वारा बाध्य किये जाने पर किसी मन-चले दूल्हा द्वारा सुनाये गये पंजाबी 'छन्द' मेरी आँखों के सामने एक चित्र-सा अंकित कर देते हैं—

छन्द प्रागे आइए जाइए छन्द प्रागे ढोल
चन्न सूरज सके भरा, तारा चुप्प अडोल
छन्द प्रागे आइए जाइए, छन्द प्रागे ढोल
खुशबूआँ मस्ताइयाँ, भेद फुल्लां दा खोल

—'छन्द प्रागे आयें जायें, छन्द प्रागे ढोल
चाँद सूरज सगे भाई हैं, तारा है चुप और अडोल

छन्द प्रागे आवें जावें, छन्द प्रागे ढोल
घुंघराएँ मस्त हैं, फूलों के भेद खोल।'

'छन्द प्रागे' का प्रयोग निरर्थक टेक के रूप में किया जाता है।

गाँव के लचो-लहजे में लोक-संगीत के स्पर्श से नई स्फूर्ति आती है, जैसे सूरज की किरनें पुष्प-पत्र-लता में नये प्राण जगाती है। लोक-संगीत में नया सूरज उदय होता है, मानव की किलकारियाँ नूतन इतिहास-लिपि का प्रतीक बनती हैं।

लोक-जीवन की समस्याएँ और सम्भावनाएँ लोक-संगीत में एक साथ करवट बदलती हैं। इसमें पुरातन की सड़ायंध के लिए स्थान नहीं रहता, क्योंकि प्रतिपल नूतन की तलाश रहती है और नूतन के प्रति जिस वफादारी और सचाई की प्रवृति काम करती है उसमें मानव आत्मा प्रकृति के मुक्त वातावरण में साँस लेती है।

लोक-संगीत का अग्रदूत है ढोल, जो मानव की पाशविकता को दबाकर उसकी कोमल और उच्च भावनाओं को प्रोत्साहन देता है, असुन्दर के स्थान पर वह सुन्दर की स्थापना करता है। ढोल सदैव सुन्दर का पथप्रदर्शक रहा है। ढोल चिरन्तन है। वह सत्य का पक्ष लेता है।

मानवता एक है, अखिल विश्व एक है—ढोल अपनी भाषा में कहता आया है। वर्तमान के कलाकार के समान ढोलिया जब ढोल पर हाथ चलाता है, लोक-संगीत का विजयघोष ऊँचा उठ जाता है। ढोल सदैव सरल सीधो भाषा में बोलता है। इसीलिए उसकी आवाज हर कोई समझ लेता है। ढोल की भाषा में विज्ञापन नहीं मुसकराते। अपने नाद द्वारा ढोल श्रद्धा का आँचल थामकर, दुर्बलताओं पर लात मारकर चलता है। चिन्ताओं की बरादरी से मुंह मोड़कर ढोल किसी नूतन उल्लास-स्रोत की तलाश में निकलता है। ढोल की भाषा में मिट्टी की सुगन्ध रहती है; एक आशीर्वाद, एक विवेक-पथ। ढोल की भाषा में विश्व-चेतना के स्वर उभरते हैं।

इस में कोई सन्देह नहीं कि ढोल जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में मानव का चिर-सखा रहा है। भले ही वह वैदिककालीन दुन्दुभि हो जिसे सम्बोधन करते हुए प्रार्थना की जाती थी कि संकट और शत्रु दूर रहें, या पर्व-उत्सवों और लोक-नृत्यों पर बजने वाला ढोल जिसकी आवाज पर पूरा कबीला झूम-झूम उठता है, कबीले का प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए जीवन-पथ का फिर से मूल्यांकन करने का यत्न करता है।

जीवन की शत-शत गाथाओं को चीरता हुआ, मानव के सामूहिक और व्यक्तिगत अनुभवों को लांघता हुआ ढोल आधुनिक युग के प्रवेश-द्वार तक आ पहुँचा है।

सामाजिक पृष्ठभूमि

'सफल साहित्य अपने युग का परिचायक तो अवश्य होता है, पर वह सामयिक नहीं होता'—ऐजरा पौंड के इस कथन में बहुत बड़ा सत्य निहित है। जब यह कहा जाता है कि लोकगीत अनेक पीढ़ियों से चले आते हैं तो हम यह मानकर नहीं चलते कि आज से बहुत पहले इन गीतों का निर्माण हुआ और फिर उसके पश्चात् नये लोकगीतों का सृजन कभी नहीं हुआ।

बहुत से गीत पुरातन होते हुए भी एकदम नूतन प्रतीत होते हैं। यह इन गीतों के स्थायी महत्त्व की दलील है। यदि वे अपने युग के सामयिक चित्र मात्र होते तो न वे चिरकाल तक जीवित रह सकते और न आज भी नूतन प्रतीत होते।

पारिवारिक जीवन की स्नेह-धारा और घृणा, विजय और पराजय, सामाजिक उत्सवों का उल्लास और वेदना के क्षणों के अश्रु — लोकगीत के निर्माण में ये सभी तथ्य सहायक होते हैं। बहन-भाई, ननद-भावज, सास-बहू, देवर-भावज—ये सभी लोकगीत के दर्पण में अपनी सामाजिक रूपरेखा को लिये हुए चलते-फिरते नज़र आते हैं। जैसे वे आज भी उतने ही जीवित हों जितने कि अपने युग में रहे होंगे। विभिन्न धन्धों में जुटे हुए लोगों का व्यक्तित्व लोकगीतों में खूब उभरा। इसके लिए हमें इन धन्धों में जुटे हुए लोगों का अध्ययन करने की आवश्यकता है। अनेक गीतों

में गाँव की पंचायत का चित्र सामने आता है, या फिर पंच परमेश्वर पर ही हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है। गाँव वालों के रहन-सहन और सोचने के ढंग, सामन्तशाही सामाजिक व्यवस्था का दबदबा और उसके विरुद्ध उठती हुई प्रतिरोध की आवाज—ये सब लोकगीत की बदलती हुई परम्परा के प्रतीक हैं। प्रत्येक त्यौहार अपने गीत साथ लाता है और इसके ताने-बाने में विविध जन समुदायों की भावनाएं अंकित रहती हैं।

लोक-कला में दरबारी कला की-सी बारीकियाँ नहीं रहतीं। जन-शक्ति की सफल अभिव्यक्ति ही लोक-कला की परम्परा रही है। और यही बात हम लोकगीत का अध्ययन करते समय अनुभव करते हैं। यों लगता है कि प्रत्येक पीढ़ी की भावनाएं समय-समय पर पुराने गीतों में निहित होती चली जाती है। उत्तर प्रदेश के तेलियों के बिरहे, जिन्हें वे मिलकर अपने फेफड़ों की पूरी शक्ति से गाते हैं, पंचायत की प्रशंसा में आज भी प्रतिध्वनित हो उठते हैं—

जहाँ पंच तहाँ परमेश्वर भाई
जहाँ कुअंना तहाँ कीच
उसी कीच का बना चउतरा
हाँ वह सब पंच नवावइं सीस
पंचा क बैठ मेड़रिया
मेड़रिया छोट बड़ा एक तूल
केकरे अर्ती उतारउं रामजी
केकरे खोंसउं बेली फूल
पंचाक आउब बहुत निक लागे
जौ घर संपत होइ
आवत के पंचा के सिसिया नवावउं
जात के पैयां पड़ रे जाउं

—'जहाँ पंच हैं, वहीं परमेश्वर है
जहाँ कुआँ है वहीं कीचड़ है
उसी कीचड़ का चबूतरा बनता है
हाँ जिसे सब पंच भी सिर झुकाते हैं
पंचों की मंडली बैठी है
मंडली में छोटे-बड़े सब बराबर हैं
मैं किसकी आरती उतारूं, हे राम
किसके सिर पर फूल चढ़ाऊं ?
पंचों का आना बहुत प्रिय लगता है
यदि घर में धन हो
पंचों के आने पर मैं सिर झुकाता हूँ
जाते हैं तो पैर पकड़ता हूँ।'

गाँव के जीवन में पंचायत को जो सम्मान प्राप्त रहा है उसे लोकगीत में बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध सुख-दुःख का संतुलन स्थापित करता है। पंचायत समाज का प्रतिनिधित्व करती है और यत्न करती है कि गाँव के झगड़े गाँव में ही तय हो जायें। पंचायत की शक्ति गाँव की शक्ति है।

अहीरों के बिरहे खुले जीवन के परिचायक हैं। बिरहा वस्तुतः अहीरों की ही थाती है। अहीर का मन बिरहा गाते कभी नहीं ऊबता—

१. गाय चरावौं सुपास न पावौं
भैंस चरावौं लम्बी दूर
अपने बाप की छगड़ी चरावौं
हिला हिला करे जी जाय
२. रहिउ करम की पातरि गोरिया
भइउ गड़िवनवा क जोय
सारा दिन पिया पहिया ढकेले
रात रतौंधी होय

१. —'गाय चराती हूँ, पिया से मिलने का अवसर नहीं मिलता।
दूर तक भैंस चराती हूँ
अपने बाप की बकरियाँ चराती हूँ
हिला हिला करते जान निकल जाती है
२. तू करम की बहुत पतली थी, हे गोरी
जो गाड़ीवान की पत्नी बनी
दिन-भर पिया गाड़ी धकेलता है
रात को उसे रतौंधी हो जाती है।'

व्यंग्य अहीरों के बिरहा की विशेषता है। इसे वे किसी भी मूल्य पर छोड़ना नहीं चाहते। बिरहा का तीर सदा निशाने पर बैठता है।

धोबियों के गीत भी कुछ कम विशेषता नहीं रखते। आज भी गोंडा जिले में धोबियों का गीत समूचे वातावरण में लहरा उठता है—

नबिया के पेड़वा जबै नीक लागे
जब निबकौरी न होय
मालिक, जब निबकोरी न होय
गोहूँ के रोटिया जबै नीक लागे
घी से चभौरी होय
मालिक, घी से चभौरी होय
अच्छा धोबिया जबै नीक लागै

धोवै बकुला के पांख
मालिक, धोवै बकुला के पांख
अच्छा समिया जबै नीक लागै
नोकर क खुश कै देय
मालिक, नोकर क खुश क देय

—'नीम का पेड़ तभी अच्छा लगता है
जब निबोली न हो
मालिक, जब निबोली न हो
गेहूं की रोटी तभी अच्छी लगती है
जब घी से चुपड़ी हो
मालिक, जब घी से चुपड़ी हो
अच्छा धोबी तभी अच्छा लगता है
जब बगुले के पंख-से वस्त्र धोवे
मालिक, जब बगुले के पंख-से वस्त्र धोवे
अच्छा स्वामी तभी अच्छा लगता है
जब नौकर को खुश कर दे
मालिक, जब नौकर को खुश कर दे।'

वस्तुतः लोकगीत की उपमायें सामाजिक जीवन से ही ली जाती हैं और यही इन उपमाओं की सबसे बड़ी विशेषता है।

गाने को धोबी भी बिरहा छेड़ देते हैं। जिला आजमगढ़ का एक बिरहा लीजिये—

बिरहा क मोटरी उठाउ परमेसरी
लेइ चलु धोबिया दुआर
आधा तो बिरहवा जे धोबी मटिअबलेन
कि आधे में दुनियां संसार

—'बिरहा की गठरी उठाओ, परमेश्वरी
इसे धोबी के द्वार पर ले चलो
आधा बिरहा गाकर तो धोबी वस्त्रों को रेह में सानता है
आधे में सारा संसार।'

बाराबंकी के धोबियों की आवाज इससे भिन्न है—

मोटी मोटी लिटिया लगैहै धोबिनियां
कि बिहने चलै का या घाट
जोड़ी, बिहने चलै का या घाट
तीनहि चीज मत भुलहै धोबिनिया

कि टिकिया तमाखू थोड़ा आगि रे
जोड़ी, टिकिया तमाखू थोड़ा आगि रे

—'मोटी-मोटी लिट्टियाँ[1] बनाना, ओ धोबिन
कल सवेरे घाट पर चलना है
जोड़ी, कल सवेरे घाट पर चलना है
तीन चीजें न भूलना, ओ धोबिन
टिकिया,[2] तम्बाकू और थोड़ी आग
जोड़ी, टिकिया, तम्बाकू और थोड़ी आग।'

बारावंकी का धोबी यह भी सोचता है कि एक पत्नी से काम नहीं चल सकता—

धोबी क चहिये चारि मेहरिया
एक घर का एक खाट
एक मेहरिया रोटी पकावे
एक बिछावे खाट
दुलहिन, एक बिछावे खाट
चिरई, एक बिछावे खाट

—'धोबी को चाहिएं चार पत्नियाँ
एक घर के लिए, एक घाट के लिए
एक पत्नी रोटी पकावे
एक खाट बिछावे
दुल्हन, एक खाट बिछावे
चिड़िया, एक खाट बिछावे।'

'छिओ राम छिओ' के ताल पर बारावंकी के धोबी की कल्पना कहीं-से कहीं जा पहुँचती है—

छिओ राम छीओ
छिओ राम छीओ
अंगिया चुलिया मैली रे हुइ गई
बिन धोबी को गाँव
कै धुबिया पिअ लाय बसावो
कै धुबिया के जांव
छिओ राम छीओ

१. बिना बेली हुई मोटी रोटियाँ जो उपलों की आग पर पकाई जाती हैं।
२. कोयले की टिकिया जिसे जलाकर तम्बाकू पर रखते हैं।

छिओ राम छीओ

—'छिओ राम छीओ
छिओ राम छीओ
अंगिया और चोली मैली हो गईं रे
बिना धोबी मैं गाँव में
प्रिय, धोबी ला कर गाँव में बसाओ
या मैं धोबी के घर चली जाऊँ
छिओ राम छीओ
छिओ राम छीओ।'

गाँव के लिए धोबी अपनी कितनी आवश्यकता समझता है, यह बात उसके बिरहा से स्पष्ट है। उसके पास अच्छे वस्त्र हों न हों, कभी-कभी वह धुलने के लिए आये हुए वस्त्र पहन कर ही छैला का वेश बना सकता है; उस समय उसे देखकर किसी अच्छे-भले परिवार की स्त्री भी मन ही मन में उसकी प्रशंसा कर सकती है, यह बात वह खूब जानता है।

मध्य भारत के एक मालवी लोकगीत में सावन का दृश्य प्रस्तुत किया गया है, जब भाई अपनी बहनों को ससुराल से लिवा लाते हैं। बहन ससुराल में है। भाई उसे लिवाने नहीं आया। कल्पना-पट पर भाई का चित्र उभरता है। बहन-भाई में दो-दो बातें होने लगती हैं—

राखी दिवासो आयो
लेवा आव म्हारा बीराजी
हूँ कैसे आऊँ
सिपरा नदी पूर
सिपरा के कापड़ो
चढ़ाव म्हारा वीराजी
हूँ चकरी-भँवरा भेजूँ
तम खेलता आव म्हारा वीराजी

—'राखी बाँधने का दिन आ गया
मुझे लिवाने आओ, मेरे भाई
मैं कैसे आऊँ?
क्षिप्रा नदी में पूर आ गई
क्षिप्रा को वस्त्र
भेंट चढ़ाओ, मेरे भाई
मैं चकरी और लट्टू भेजती हूँ
तुम खेलते खेलते आओ, मेरे भाई!'

क्षिप्रा के लिए गीत में सिपरा शब्द का प्रयोग हुआ है। क्षिप्रा का चढ़ा हुआ पानी

वस्त्र की भेंट देने से उतर सकता है, बहन के इस अन्धविश्वास की चर्चा करते हुए मालवी लोकगीतों के अन्वेषक श्याम परमार लिखते हैं—"भाई आने को आतुर है। किन्तु क्षिप्रा की धाराएँ आज ऊँची हो कर उसका पथ रोक रही हैं। प्रकृति के इस 'अतियौवन' रूप से मानव का छोटा-सा अस्तित्व क्या टक्कर ले? अपनी असमर्थता जान समर्थ की सत्ता को स्वीकार कर लेना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। बहन भाई से कहती है कि क्षिप्रा को कपड़ा चढ़ाओ ताकि लहरें शान्त हो जायें। मानव के विश्वास गीतों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। ज्यों-ज्यों इन विश्वासों का विकास हुआ भोला मानव उतना ही अपने से परास्त हुआ है।"[1]

सन् १६१४ के महायुद्ध से सम्बन्धित एक मालवी लोकगीत इस बात का प्रमाण है कि जहाँ सामयिक घटनाएँ लोकगीत में नये प्रसंग उठाती हैं वहाँ लोक-गायकों के समक्ष यह समस्या भी रहती है कि उनकी मानसिक प्रतिक्रिया सामयिक प्रतिक्रिया मात्र ही न रहे और उनकी रचना में समय विशेष को पार करने की शक्ति आ जाय। गीत यों है—

जर्मन का बादसा मती लड़ो रे अंगरेज से
जा पड़े बीजली गोला बरसे समदर स्काज में
जी हरो रंग पीलो रंग मोंगो कर दयो, कुंकु कर दयो फीको
जी लाल रंग को भाव चढ़ई दयो, लुगड़ा कां से रंगां रे
जर्मन का बादसा मती लड़ो रे अंगरेज से
जी दाल चावल मोंगा कर दया, शक्कर करदी मुश्किल जी
घी को तो जी भाव चढ़ई दयो, चोखा काय से जीमा रे
जर्मन का बादसा मती लड़ो रे अंगरेज से

—'जर्मन के बादशाह, अंग्रेज से न लड़ो
वहाँ बिजलियाँ गिरती हैं, समुद्र और जहाज पर गोले बरसते हैं
जी हरा रंग पीला रंग महँगा कर दिया, कुंकुम फीका कर दिया
जी लाल रंग का भाव चढ़ा दिया, लुगड़ा काहे से रंगें ?
जर्मन के बादशाह, अंग्रेज से न लड़ो
जी दाल-चावल मँहगा कर दिया, शक्कर मिलनी मुश्किल हो गई
घी का भाव चढ़ा दिया, मजेदार भात कहाँ से खायें ?
जर्मन के बादशाह, अंग्रेज से न लड़ो।'

श्याम परमार लिखते हैं—"१६१४ की लड़ाई का जो प्रभाव भारत के गाँव-गाँव पर पड़ा था, उसी का यह फल था कि जनता के हृदय से महँगाई और कष्ट की पराकाष्ठा से ये उद्गार निकल पड़े। यह गीत आज के जमाने में भी, जब देशों पर भयंकर आक्रमण करने की तैयारी चढ़ी जा रही है और वही मंहगाई और कष्ट आज की मौजूदा हालत देखते हुए १६१४ के बजाय अधिक है अपना विशेष असर रखता है। इस समय की भयंकरता न जाने कितने ही

१. श्याम परमार, 'मालवी लोकगीत', पृ० २१।

कण्ठों को युग का राग अलापने की ओर मोड़ चुकी होगी।''[1]

लाख निर्धनता हो, जीवन की धारा कभी थमती नहीं। पति-पत्नी लड़-झगड़ कर फिर घुल-मिल जाते हैं। इसी संघर्ष में बालक जन्म लेते हैं, जिनका फिर इसी संघर्ष में पालन-पोषण होता है। विवाह होते हैं और ग्राम के वातावरण में एक बार फिर वही विवाह गान प्रतिध्वनित हो उठता है। एक अवधी विवाह-गीत में सुहागरात का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

आजु सोहाग कै रात चन्दा तुम उइहौ
चन्दा तुम उइहौ सुरुज मति उइहौ
मोर हिरदा बिरस जनि किहेउ मुरुग मति बोलेउ
मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तु पह जिनि फाटेउ
आजु करहु बड़ी राति चन्दा तुम उइहौ
धिरे धिरे चलि मोर सुरुज बिलम करि अइहौ

—'आज सुहाग की रात है, चाँद, तुम उदय होना
चाँद, तुम उदय होना, सूरज, तुम उदय न होना
मेरे हृदय को विरस मत करना, मुर्गे, तुम मत बोलना
मेरी छाती कहीं फट न जाय, हे पौ, तुम मत फटना
आज बड़ी रात करना, चाँद, तुम उदय होना
धीरे-धीरे चलना, मेरे सूरज, विलम्ब करके उदय होना।'

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ऐसे अनेक गीत गाँव की पृष्ठभूमि पर उभरते हैं, जिनकी चित्र-सुलभ सूक्ष्म रेखाएँ मन पर एक जादू-सा कर देती हैं। निर्धनता के भारी बोझ तले दबा हुआ मानव जब सिर उठा कर चाँद-सूर्य को उदय होते हुए देखता है तो उसकी कल्पना सजीव हो उठती है। निस्सन्देह सुहागरात का वह चित्र, जो उत्तर प्रदेश के इस विवाह-गीत में प्रस्तुत किया गया है, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय लोकगीत-संग्रह में एक बहुमूल्य वस्तु सिद्ध हो सकता है।

घर पर पति राजा है और पत्नी रानी। राजा हँसकर पूछता है—रानी, तुमने इतनी देर कहाँ लगाई? रानी साफ-साफ कह देती है—मेरे बचपन के प्रेमी भ्रमर ने आँचल थाम कर रोक लिया था। राजा कहता है—मेरी ढाल तलवार लाओ, मेरी कमर की कटारी लाओ, मैं भ्रमर को जान से मार डालूँगा। रानी भ्रमर से कहती है कि वह उड़ जाय। भ्रमर उड़ जाता है। अन्त में रानी उदास नजर आती है और कहती है—भ्रमर के बिना फुलवारी सूनी हो गई। ऐसे अनेक चित्र लोकगीतों में मिल जायँगे।

धानी रंग की चुनरी पर इत्र महकता है। सोने के थाल में भोजन परोसना व्यर्थ है, क्योंकि पति घर पर नहीं है। कोई स्त्री कह उठती है—इस रंगमहल के दस द्वार हैं। न जाने कौन-सी खिड़की खुली थी कि पिया चले गये। कहीं सोते हुए तोते को जगाकर कोयल कहती है—मेरे देश चलो जहाँ आम, महुआ और अनार बहुत होते हैं। दुखिया बहन से भाई मिलने आता है तो वह कह उठती है—दुःखों की गठरी को साथ ले जाओ भइया, यहाँ मत खोलियो, ...

१. श्याम परमार, 'मालवी लोकगीत', पृ० १००।

रास्ते में किसी नदी के किनारे खोलकर देख लीजिओ। दुखिया स्त्री का जीवन बरसात की झोंपड़ी के समान है जिसमें बूँद बूँद टपकने लगती है। आधी रात को कोई बाँसुरी बजाता है और पौ फटने से पहले ही कोई कन्या किसी के साथ भाग जाती है। कहीं स्त्री अपने पति को समझाती है—घर पर कुआँ खुदवाओ और गंगा स्नान करो। वीर चलता है तो धरती हिलती है और चमकती है; वह हँसता है तो बादल गरजता है।

जीवन की गति बदल रही है। अब तक भारतीय गाँव दुनिया से अलग-थलग भाग्य-चक्र पर विश्वास करता हुआ दबक कर जीवन व्यतीत करता रहा था। अब राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक पृष्ठभूमि भी बदल रही है। अब जो लोक-साहित्य जन्म लेगा उसकी हैसियत सामयिक न होगी, जैसा कि पुरानी परम्पराओं का तकाज़ा है।

पंजाबी लोकगीत में संगीत-तत्त्व

: १ :

जैसे कोई कुलवधू स्नान के पश्चात् नये वस्त्र पहन कर मेले में जाने के लिए तैयार हो जाय, लोकगीतों के सरल शब्दों पर कुछ ऐसा ही रूप निखरता है—बस उन्हें ज़रा संगीत का स्पर्श चाहिए। पंजाबी लोकगीत के अध्ययन में यह बात मेरे सम्मुख कई बार स्पष्ट हो उठी है। किसी-किसी शब्द में तो संगीत के स्पर्श द्वारा उड़ने की शक्ति आ जाती है।

लोकगीत का संगीत-तत्त्व काव्य-तत्त्व से अधिक महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि उसके सृजन में संगीत की प्रेरणा ही प्रधान रहती है। दूर से तैरते हुए जब किसी पुरातन लोकगीत के स्वर रात के एकान्त वातावरण में किसी नई ही वेदना का संचार कर देते हैं, काव्य से कहीं अधिक संगीत-तत्त्व ही हमारी आत्मा के तार हिलाता है।

संगीत से विलग हो कर अनेक लोकगीतों की ऐसी अवस्था हो जाती है जैसे किसी ने उनके नये वस्त्र उतार कर मैले वस्त्र पहना दिये हों, या जैसे किसी ने उनके पंख काट डाले हों। इसका यह अर्थ नहीं कि इस अवस्था में लोकगीतों का कोई महत्व नहीं रह जाता। जहाँ तक काव्यगत चित्र का सम्बन्ध है, वह तो रहता ही है। पर यदि हम किसी लोकगीत का पूरी तरह मूल्यांकन करना चाहें तो उसके मूल-रूप में देखना होगा, क्योंकि उसे उसकी मौलिक स्वर-लहरियों के आँचल में देख कर ही हम उसके वास्तविक महत्व को समझ सकते हैं।

पंजाबी लोकगीत की घुट्टी में लोरी के स्वर मिले हुए हैं। यह वह प्रदेश है जहाँ दूध की कमी नहीं। जब बालक ज़रा बड़ा होने लगता है, माँ उसे गाय या भैंस का दूध पिलाती है। पंजाबी लोरियों में दूध की कटोरी का चित्र उभरता है। साथ ही माँ की यह भावना भी लोरी के शब्दों और स्वरों को छू-छू जाती है कि बालक को लोगों से छिप कर दूध पिलाया जाय जिससे उसे बुरी नज़र से बचाया जा सके। बालक झूले में पड़ा है। माँ के ओंठों पर लोरी के स्वर थिरक उठते हैं—

लोर मलोरी, दुद्ध कटोरी
पी लै वे निक्किया, लोकां तों चोरी
ऊं ऊं ऊं
बोल वे काँवाँ, तैनू चूरी पाँवाँ
सौं जा वे निक्किया, मैं लोरी गाँवाँ
ऊं ऊं ऊं

—'लोरी मलोरी, दूध की कटोरी
पी ले नन्हें, लोगों से चोरी
ऊं ऊं ऊं
बोल ओ काग, मैं तुझे चूरी दूँ
सो जा नन्हें, मैं लोरी गाऊँ
ऊं ऊं ऊं।'

दूध की कटोरी के साथ ही काग का चित्र भी उभरता है। काग सहसा काँय-काँय कर उठे तो इससे यह निर्देश लिया जाता है कि कोई अतिथि आ रहा है। कदाचित् नन्हें का पिता ही कहीं बाहर गया हो और माँ को उसी की प्रतीक्षा हो। इसलिए आज उत्सुक होकर माँ काग को बोलने का आमन्त्रण देती है; साथ ही प्रलोभन देती है कि वह उसे चूरी खिलायगी। नन्हें को यह ताकीद की गई है कि वह लोगों की निगाह बचा कर सो जाय।

लोरियों से निकल कर पंजाबी लोकगीत थाल गीतों के आँचल में अपनी छटा दिखाता है। बचपन से ही पंजाबी कन्याएँ थाल गाने लगती हैं। गेंद के साथ खेलते हुए थाल गाये जाते हैं। इस गेंद को 'खेहनू' कहते हैं। वस्त्र में रूई भर कर गेंद तैयार की जाती है। इस पर सुई से सुन्दर कसीदे का काम किया जाता है। जब तक रबड़ की गेंद गाँव तक नहीं पहुँची थी, खेहनू को हाथ से पटक-पटक कर थाल के ताल पर उछाला जाता। ताल टूटने न पाये, गेंद गिरने न पाये जब तक एक थाल पूरा नहीं हो जाता, यह आवश्यक है। इसे थाल-गीत का चमत्कार ही समझिए कि बचपन बीतने पर भी कन्याएँ खेहनू से खेलती रहती हैं और रस ले कर थाल गाती हैं।

थाल गीतों में कहीं-कहीं कन्या का ब्याह के लिए ललचाता हुआ मन छलक पड़ता है—

माँ नी माँ मेरी गुत्त कर

धीए नी धीए चुप्प कर
माँ नी माँ मेरा ब्याह कर
धीए नी धीए राह कर
माँ नी माँ मेरी जंज आई
धीए नी धीए किथे आई
पिप्पल दे हेठ
नाले सौहरा नाले जेठ
नाले पियो दा जुआई
खाये मट्ठी ते मठियाई
पहने पट्ट ते दरियाई
सौंदा लेफ ते तलाई
आल माल होइया थाल

—'माँ, ओ माँ, मेरी वेणी गूँथ
बिटिया, ओ बिटिया, चुप रह
माँ, ओ माँ, मेरा ब्याह कर
बिटिया, ओ बिटिया, सोच कर बोल
माँ, ओ माँ, मेरी बारात आई
बिटिया, ओ बिटिया, कहाँ आई ?
पीपल के नीचे
ससुर भी और जेठ भी
पिता का दामाद भी
वह खाता है मट्ठी और मिठाई
पहनता है रेशम और दरियाई
सोता है रजाई और तलाई में
आल माल, पूरा हुआ थाल !'

पिता के दामाद का ज़िक्र भी छिपाया नहीं गया। एक विशेष वस्त्र जो पिता के दामाद को पसन्द है, या यह कहिए कि स्वयं कन्या यह चाहती है कि उसे यह वस्त्र पसन्द होना चाहिए, वह है दरियाई। आज इस का चलन नहीं रहा। एक प्रकार की पतली रेशमी साटन को दरियाई कहते थे। पंजाब में ग्राम के समीप पीपल के वृक्ष नज़र आयेंगे, जिन के नीचे बारात आ कर थोड़ी देर के लिए रुकती है। ग्राम की कन्या ने यह दृश्य देखा और इसे थाल में अंकित कर दिया। इसमें कन्या की माँ ने भी अवश्य सहायता की होगी। यह उस युग का गीत है जब अभी संकोच की भावना इतनी नहीं उभरी थी, जब भावना के द्वार पर पहरा नहीं बैठाया गया था।

यह तो हुई काव्य-पक्ष की बात। संगीत-पक्ष की दृष्टि से भी थाल उल्लेखनीय है। यह ठीक है कि थाल कभी गाया नहीं जाता, 'खिदनू' से खेलने वाली लड़की थाल के बोल केवल

गुनगुनाती है; पर थाल का संगीत इसके शब्दों में फूट पड़ता है।

पंजाब का एक और बाल-गीत है किलकिली। दो कन्याएँ एक-दूसरी के हाथ खींचती हुई पैर मिला कर चक्कर में घूमती हैं और किलकिली गाती हैं—

गई साँ मैं गंगा
चढ़ा लिआई वंगाँ
असमानी मेरा घग्गरा
मैं केहड़ी कीली टंगाँ
नी मैं एस कीली टंगाँ
नी मैं ओस कीली टंगाँ

—'मैं गंगा गई थी
वहाँ से चढ़ा लाई चूड़ियाँ
हलके नीले रंग का है मेरा लहँगा
किस खूंटी पर लटकाऊं
अरी मैं इस खूंटी पर लटकाऊं
अरी मैं उस खूंटी पर लटकाऊं।'

थाल की तरह किलकिली के बोल भी केवल गुनगुनाये जाते हैं, पर थाल ही की तरह इसके शब्द संगीत के साँचे से अभी-अभी निकल कर आये प्रतीत होते हैं।

जीवन की प्रत्येक अवस्था से, जन्म से मृत्यु पर्यन्त लोकगीत को प्रेरणा मिली है। पंजाबी जीवन में कविता के लिए सबसे अधिक स्थान है। बहन अपनी ससुराल में भाई की बाट जोहती है। अनेक गीतों में माँ-बेटी का प्रेम उमड़ा पड़ता है। अनेक गीतों में ननद-भावज के परस्पर विरोध और सास-बहू के कलह की चर्चा मिलती है।

जहाँ पंजाबी लोकगीत उभर कर समूचे जीवन पर छा जाता है, वह है स्त्री और पुरुष के प्रणय का धरातल। स्त्री को सदैव पुरुष की प्रतीक्षा रही है। सहेलियों के बीच खड़ी स्त्री उचक-उचक कर देखती है, जैसे वह समीप खड़े किसी पुरुष को देख लेना चाहती हो, जिसने कभी उसके स्वप्नों को छू लिया था। यह पुरुष कभी पथिक के रूप में पास के किसी रास्ते पर जाता नज़र आ जाता है, नीले घोड़े पर सवार जैसे वह बस इस स्त्री की एक ही आवाज़ पर रुक जायगा। इन प्रणय-गीतों में स्त्री-पुरुष का वार्तालाप बहुत सुन्दर बन पड़ा है—

राहीया राहे राहे जांदिया
कदी तां वागां मोड़
किंज मोड़ा नी गोरीए
तैंडे जही घर होर
मैंढे जही न होसीया
राहीया राहे राहे जांदिया

न होसी कोमल मुटियार
पाणी कोलों पतली
फुल्लां कोलों हुशनाक मीयां
राहीया राहे राहे जांदिया
कदी तां वागां मोड़

—'ओ राह चलते पथिक
कभी तो घोड़े की बागें मोड़
कैसे बागें मोड़ूं, गोरी
घर में तेरे जैसी एक और है'[1]
मेरे जैसे न होगी
ओ राह चलते पथिक
मेरे जैसी कोमल युवती कोई न होगी
पानी से भी पतली
फूलों से भी सुगन्धित, ओ मीयां
ओ राह चलते पथिक
कभी तो घोड़े की बागें मोड़।'

एक और गीत में पुरुष की ओर से पहल होती है—

किक्करी हेठ खलोतड़ीए
क्यों होईएं दिलगीर कुड़ीए
किक्कर चोजां चे माही
कन्नां तों मैं चुच्चीआं
वाले घड़ामां
तेरे कन्नी पावां
सेज विछावां
घुट्ट वाल लावां
हुए क्यों जानीए नट्ट कुड़ीए
कोठा क्यों जानीएं टप्प कुड़ीए
नज़र माही वल्ल रक्ख कुड़ीए
नैन तेरे ने तीर कुड़ीए
किक्करी हेठ खलोतड़ीए
क्यों होईएं दिलगीर कुड़ीए

—'ओ कीकर के नीचे खड़ी युवती,
तुम दिलगीर क्यों हो

मैं कैसे बोलूँ, प्रियतम
मैं तो कानों से नंगी-बूची हूँ
मैं बाले घड़ाऊंगा
तेरे कानों में पहनाऊंगा
सेज बिछाऊंगा
गले से लगाऊंगा
अब क्यों भागी जा रही हो, ओ कन्या
अब क्यों कोठा फांद रही हो, ओ कन्या
प्रियतम की ओर नजर रख, ओ कन्या
तेरे नयन तो तीर हैं, ओ कन्या
ओ कीकर के नीचे खड़ी कन्या
क्यों दिलगीर हो, ओ कन्या!'

यह गीत उस श्रेणी से सम्बन्ध रखता है जो 'ढोलकी दे गीत' कहलाते हैं। ढोलक ही इन गीतों का पथ-प्रदर्शन करती है। स्त्रियाँ और युवतियाँ ही इन्हें गाती हैं।

एक और श्रेणी है जो 'लम्मे गीत' के नाम से प्रसिद्ध है। ये गीत लम्बे स्वरों में गाये जाते है; एकदम साम गान का दृश्य उपस्थित हो जाता है। इनके साथ ढोलक नहीं बजाई जा सकती। इन गीतों का एक उदाहरण लीजिए—

अम्बां दे थल्ले-थल्ले जांदिया छैला हो
अम्बां दा झड़ पिया चूर पंछी
अम्ब पक्के रस चू पिया
मेरा चूपन वाला रसिया दूर पंछी
अम्बा दे थल्ले थल्ले जांदिया छैला हो
किन चलाया मैं वल्ल रोड़ पंछी
कोठे ते खलोतड़ीए मैं चलाया तैं वल्ल रोड़ पंछी
रोड़ां दी मारी वे मैं ना मरां
बोलां दी मारी चिकनाचूर पंछी
कोठे दे उत्ते बारी कोठड़ी
धुर कोठे ते तन्दूर पंछी
गिन-गिन लावां रोटियां बारी
भर-भर लानीआँ पूर पंछी
सस्सू दे जाये बारी खा गये
अम्मां दे जाये बारी दूर पंछी
पांधे दे पुच्छन बारी मैं चल्ली छैला हो
थाल विच्च पा के तम्बूल पंछी
कड्ढीं ते पाँधिया बारी पत्री

कदों ते आवे मेरा ढोल पंछी
कड्ढी ते वीवी तेरी पत्री
बारहीं ते वरहीं तेरा ढोल पंछी
अग्ग लावाँ तेरी पत्री
नदी रुढ़ावाँ तेरा बोल पंछी
पाँधे दे पुच्छण वारी मैं चल्ली
सट्ट सहेलियाँ दे नाल पंछी
कड्ढीं ते पाँधिया वारी पत्री
कदों ते आवे मेरा ढोल पंछी
कड्ढी नी बीबी तेरी पत्री
मलके दोपहरे तेरे कोल पंछी
सोने जड़ावाँ तेरी पत्री
मोती जड़ावाँ तेरे बोल पंछी

—'आम के वृक्षों के नीचे-नीचे जाते, ओ छैला
आमों का बूर झड़ गया, ओ पंछी
आम पक गये, रस चू पड़ा
चूसने वाला मेरा रसिया दूर है, ओ पंछी
आम के वृक्षों के नीचे-नीचे जाते, ओ छैला
मेरी तरफ कंकर किसने फेंका, ओ पंछी
ओ कोठे पर खड़ी स्त्री
मैंने फेंका है तेरी तरफ कंकर, ओ पंछी
कंकर फेंकने से मैं नहीं मरती
बोली मारने से मैं चिकना चूर हो जाती हूँ, ओ पंछी
कोठे पर कोठरी है
ऊपर वाले कोठे पर तन्दूर है, ओ पंछी
गिन-गिन कर रोटियाँ लगाती हूँ
भर-भर कर पूर उतारती हूँ, ओ पंछी
सास के जाये खा गये
अम्मां के जाये दूर है, ओ पंछी
मै ज्योतिषी को पूछने चली, ओ छैला
थाल में ताम्बूल रख कर, ओ पंछी
ओ ज्योतिषी, अपनी पत्री निकाल
कब आयगा मेरा प्रियतम, ओ पंछी
बीबी, तेरी पत्री निकाल कर देख ली
बारह वर्ष बाद आयगा तेरा प्रियतम, ओ पंछी

आग लगाऊँ तेरी पत्री को
नदी में बहा दूँ तेरे बोल, ओ पंछी
मैं ज्योतिषी को पूछने चली
साठ सहेलियों के साथ, ओ पंछी
ओ ज्योतिषी, पत्री निकाल
कब आयगा मेरा प्रियतम, ओ पंछी
बीबी, तेरी पत्री निकाल कर देख ली
कल दोपहर को वह तेरे पास होगा, ओ पंछी
सोने में जुड़ाऊँ तेरी पत्री
मोती जुड़ाऊँ तेरे बोल पर, ओ पंछी।'

इस गीत को यहाँ प्रस्तुत करते हुए छपाई की सुविधा के लिए प्रत्येक लम्बी पंक्ति की, दो-दो पंक्तियाँ बनानी पड़ीं; गाते समय स्वर विस्तार के प्रवाह में यह भेद नहीं रहता।

'लम्बे गीत' स्वर विस्तार की दृष्टि से बहुत अभ्यास चाहते हैं। प्रायः वृद्ध स्त्रियाँ ही इन्हें गाती हैं। नई पीढ़ी इन्हें उस उत्साह से स्वीकार करती नजर नहीं आती जिस उत्साह से अन्य गीतों को और जो विशेष रूप से ढोलक पर गाये जाने वाले गीतों के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। इस से यह संकट भी उत्पन्न हो गया है कि कहीं 'लम्बे' गीत मिटते-मिटते मिट न जायँ। केवल स्त्रियाँ ही इन्हें गाती हैं; एक-एक शब्द पर स्वर-विस्तार द्वारा रुक-रुक कर जब विरह और वेदना का प्रवाह चलता है तो यों लगता है जैसे स्वरों का काफिला लम्बी यात्रा पर चल निकला है, जैसे इस काफिले के प्रत्येक शब्द और स्वर को एक-दूसरे की नकेल से अच्छी तरह बाँध दिया गया हो।

: २ :

माहिया का अर्थ है साजन। माहिया पंजाबी लोक-संगीत में प्रेम-गान के रूप में विकसित हुआ। पंजाबी भाषा का माही शब्द भी माहिया का पर्यायवाची है; अनेक पंजाबी लोकगीतों में इसका प्रयोग हुआ है। पर माहिया के सम्मुख माही शब्द का प्रयोग फीका लगता है।

पंजाब में माहिया गान के लिए टप्पा शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। माहिया का कोई-न-कोई बोल भी इसकी साक्षी दे सकता है—

दो टप्पे गवेनीआँ
टप्पे शप्पे कोई नी, चन्ना
दिल दे साड़ कढेनीआँ

—'दो टप्पे गा रही हूँ
टप्पे-शप्पे कोई नहीं, ओ चाँद
दिल के साड़ निकाल रही हूँ।'

टप्पा शब्द का अर्थ ढूँढने के लिए शब्दकोष खोल कर देखिए। इसके आठ अर्थ

हैं—१. उछल-उछल कर जाती हुई वस्तु की बीच-बीच में टिकान, २. उतनी दूरी जितनी दूरी पर कोई फेंकी हुई वस्तु जा कर पड़े, ३. उछाल, कूद, फलाँग, ४. दो स्थानों के बीच में पड़ने वाला मैदान, ५. नियत दूरी, मुकर्रर फ़ासला, ६. जमीन का छोटा हिस्सा, ७. अन्तर, बीच, फ़र्क, ८. एक प्रकार का चलता गाना जो पंजाब से चला है। टप्पा का अन्तिम अर्थ ही वस्तु स्थिति का परिचायक है।

संगीतज्ञों की गोष्ठी में आज जो टप्पा गाया जाता है उसका रूप माहिया गान से अधिक समानता नहीं रखता। संगीतज्ञों द्वारा गाये जाने वाले टप्पे के विकास में लोक-संगीत का कितना हाथ रहा है और माहिया गान की मूल शैली को भी इसका थोड़ा-बहुत श्रेय मिल सकता है या नहीं, इसका अनुसन्धान स्वतन्त्र रूप से किया जाना चाहिए।

माहिया में 'चन्नां' (ओ चाँद) का प्रयोग साजन के लिए किया जाता है। अपने चाँद को सम्बोधन करते हुए सजनी कहती है कि वह दो टप्पे गा रही है, और टप्पे-शप्पे भी आखिर क्या हैं, इनके द्वारा वह अपने दिल के 'साड़' निकाल रही है।

ये दिल के 'साड़' ही माहिया की सबसे बड़ी विशेषता है। साड़ का अर्थ है जलन। माहिया गायक के लिए दिल की जलन का महत्त्व समझना अनिवार्य हो जाता है।

दिल में जलन होती है तो सजनी के ओठों पर इस की अभिव्यक्ति हो उठती है। वह केवल दिल की जलन को शब्दों में बांधने का यत्न करती है। यह देखने के लिए उसके पास अवकाश है न योग्यता कि सचमुच उसे काव्य की सृष्टि में कहाँ तक सफलता हुई है। उसके यहां किसी छद्मवेदना के लिए कोई स्थान नहीं, सदैव उसकी आत्मकथा का एक पृष्ठ खुल जाता है। माहिया में न ख्वाह-म-ख्वाह शब्दों का आडम्बर खड़ा करने की चेष्टा की जाती है, न अस्वाभाविकता की तह जमाने की प्रवृत्ति अग्रसर होती है।

सरलता और निष्कपटता का आग्रह माहिया गायक को प्रिय है, अपने पाथेय में वह इन्हीं को प्रधानता देता है। माहिया की दागबेल सदैव वास्तविकता की भूमि पर ही डाली जाती है। माहिया गायक अपने आसपास की दुनिया को जानता है। उसका अवलोकन और निरीक्षण उसकी कल्पना की बागडोर संभालता है, उसके बोल में मौलिकता की सृष्टि करता है। मौलिकता के लिए उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

माहिया की शब्दावली में परम्परागत शब्दावली का ही सब से अधिक हाथ नजर आता है, पर माहिया गायक को एकदम बँधी-बँधाई और घिसी-पिटी शब्दावली का गुलाम नहीं बनना पड़ता। नये शब्द घड़ने और उन्हें प्रयोग करने की उसे खुली छुट्टी रहती है।

जैसे एक स्थान के समाचार छपकर दूसरे स्थान पर पहुँचते हैं; गाँव-गाँव घूमनेवाला चिठ्ठीरसां या डाकिया जैसे एक जगह की चिट्ठियाँ दूसरी जगह पहुँचाता है, ऐसे ही माहिया के बोल एक दिल का दर्द दूसरे दिल तक पहुँचाते हैं।

संक्षिप्त शब्दों में, पूरी बात कह सकने की परम्परा माहिया की विशेषता है। फालतू शब्दों के लिए न यहाँ गुंजाइश है, न आग्रह—

१. खत आया ढोले दा
इतनी रुखीयां, चन्ना

गलवां सिज्ज गया चोले दा
२. सोने दी इट्ट, माहिया
मिलण वी न आयो
दो कदमां दी विथ, माहिया
३. छब्बे भरे ने अनारों दे
साडे दुःख सुण के
रोंदे पत्थर पहाड़ां दे
४. वंग ढट्टीआ छड़ंग करके,
टुर गया माहिया
चार दिहाड़े संग करके
५. कटोरा कांसी दा
माही दी जुदाई ऐवें
जिवें भूटा फाँसी दा
६. भट्टी उत्तों सुनाए दाणे
मैं तेरी नौकर आँ
तेरे दिल दीआं रब्ब जाणे
७. सोने दा किल्ल, माहिया
लोकां दीआं रोण अक्खीयाँ
साडा रोंदा ई दिल माहिया

१. —'ढोला का खत आया
मैं इतना रोई, ओ चाँद
मेरे चोले का गरेबान भीग गया
२. सोने की ईंट है, माहिया
तुम मिलने भी न आये
दो कदमों का फासला था, माहिया
३. अनारों के टोकरे भरे हैं
हमारे दुःख सुन कर
पहाड़ों के पत्थर रोते हैं
४. चूड़ी झंकार के साथ गिर गई
माहिया चलता बना
चार दिन पास रह कर
५. कांसी का कटोरा है
माहिया की जुदाई ऐसे है
जैसे फांसी का झोल
६. भट्टी पर दाने भुनाये

मैं तुम्हारी नौकर हूँ
तुम्हारे दिल की खुदा जाने
७. सोने का कील है, माहिया
लोगों की आँखें रोती हैं
हमारा दिल रोता है !'

ग़ज़ल के शेरों के समान माहिया का एक-एक बोल स्वतन्त्र होते हुए भी पूरे गीत की कड़ी प्रतीत होता है। जो चीज़ माहिया के प्रत्येक बोल को स्वतन्त्र गीत का दर्जा देती है, वह है प्रत्येक बोल की प्रथम पंक्ति। ऊपर से देखने से यह फ़ालतू-सी वस्तु प्रतीत होती है। कुछ आलोचकों ने इसे निरर्थक पैवन्द माना है।

एक बार उर्दू मासिक 'साक़ी' में अहमद नदीम कासिमी ने लिखा था—"पहला टुकड़ा बेमानी है लेकिन चूंकि दूसरे तवील टुकड़े का हमक़ाफ़िया और हमरदीफ़ है, इसलिए इस मुख्तसिर से टुकड़े से महज तरन्नम और तसलसल की तख़लीक़ मक़सूद होती है। मौज़ूद के लिहाज से माहिया का दूसरा टुकड़ा इस गीत की तमाम महबूबियतों का महवर होता है और यह माहिया के पूरे बन्द में रुबाई या क़िता के आख़िरी मिसरा की सी हैसियत रखता है। अगर पहला टुकड़ा क़ाफ़िया और रदीफ़ के अलावा मौज़ूद के लिहाज से भी दूसरे टुकड़े से हम-आहंग हो जाय तो क़यामत का समां बंध जाता है।"[१]

अहमद नदीम कासिमी ने यह स्वीकार किया है कि माहिया की प्रथम पंक्ति में कहीं-कहीं तुकांत के अतिरिक्त वस्तु कथा की दृष्टि से भी दूसरी पंक्ति के साथ एकस्वरता स्थापित हो जाती है।

अहमद नदीम कासिमी माहिया के प्रत्येक बोल में दो पंक्तियों की शैली स्वीकार करते हैं पर गहन अवलोकन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि माहिया के प्रत्येक बोल में तीन पंक्तियां होती हैं। दूसरी और तीसरी पंक्ति को मिला कर 'दूसरा तवील टुकड़ा' मानने का आग्रह युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता।

पहली पंक्ति पृष्ठभूमि को उभारने में सहायक होती है। ऊपर से देखने में यों लगता है कि यह केवल तुकान्त के लिए रखी गई है, पर इसके द्वारा माहिया गायक पृष्ठभूमि की किसी-न-किसी वस्तु को यों छूता है जैसे एक ही स्पर्श से किसी चित्र का उद्घाटन कर दिया गया हो—

१. छींट वे रज़ाइयां दी
बुज्झी मैं वत्तनीआं
तेरी नीत जुदाइयां दी
२. मैं खलीआं खोले ते
माहिये मैंनू झिड़क दित्ता
हिंज डिग्ग पई चोले ते
३. चिट्टा वे गुदाम होसी
जीदियां नौकर तेरी

१. 'साकी', जनवरी १९४७, पृ० २२५।

मोइयां मिट्टी गुलाम होसी

४. *काठी वे घोड़े दी*
भुल्ल के मैं लाइयां अक्खीयां
नहीं सी खबर विछोड़े दी

५. *दरिया पये वगदे ने*
बोलीयां न मार, चन्ना
सीने तीर पये लगदे ने

६. *महिंगा हो गया सोना ए*
पल दे हासे पिच्छे
पिया उमर दा रोणा ए

७. *कोठे ते निवार पई*
फुल्लां वे गुलाब देया
सानू तेरे पिच्छे मार पई

१. —'रज़ाइयों के लिए छींट है
मैंने समझ लिया है
तेरी नियत जुदा होने की है

२. मैं खंडहरों में खड़ी हूँ
माहिया ने मुझे डाँट दिया
आँसू गिर पड़ा मेरे चोले पर

३. सफ़ेद गोदाम होगा
जीते-जी मैं तेरी नौकर हूँ
मर कर मिट्टी गुलाम होगी

४. घोड़े की काठी है
भूल कर मैंने आँखें लड़ाईं
विछोड़े की खबर न थी

५. दरिया बहते हैं
ताने न मार, ओ चाँद
सीने पर तीर लग रहे हैं

६. सोना महँगा हो गया
पल-भर की हँसी के लिए
उम्र भर रोना पड़ गया

७. छत पर निवार पड़ी है
ओ गुलाब के फूल
हमें तुम्हारे लिए मार पड़ी।'

माहिया का सृजन उन्हीं लोगों के हाथों हुआ है जिन्हें संयोग, वियोग और प्रतीक्षा का

अनुभव हुआ है। जब माहिया की प्रथम पंक्ति में कहा जाता है—रजाइयों के लिए छींट है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सजनी को रजाई बनाने की चिन्ता है। फिर जब वह कहती है कि वह खंडहरों में खड़ी है तो यह बात उभरती है कि उसे नया घर बनाने की उमंग है। कहीं गोदाम बनाया जा रहा है या घोड़े की काठी नज़र आ जाती है; कोई दरिया बह रहा है किसी ने आ कर खबर दी कि सोना महँगा हो गया; छत पर निवार रखी है—ये सब झाँकियाँ माहिया की कविता में चलचित्र की-सी रंगीनी ला देती हैं।

माहिया का सृजन प्रतिक्षण चलता रहता है। एक होड़-सी लगी रहती है। अधपका माहिया टिक ही नहीं सकता। नवीनता होनी चाहिए, जिसके बिना इसे चिरन्तन होने का वर-दान मिल ही नहीं सकता।

नवीनता की होड़ का एक लाभ यह हुआ है कि मनोवैज्ञानिक मंच पर माहिया की शैली अधिक-से-अधिक मँजती चली गई; प्रथम पंक्ति में उन वस्तुओं की ओर संकेत करने की प्रवृत्ति अग्रसर हुई जिनका सम्बन्ध आधुनिक युग से अधिक जुड़ा हुआ है। इस सिलसिले में रेलगाड़ी की चर्चा अनिवार्य है—

१. गड्डी आ गई शूँ शूँ शूँ
कुड़ियां चों मैं सोहणी
मुण्डेयां चों सोहणा तूँ
२. गड्डी आ गई टेसन ते
परे हट, बाबूआ वे
सानूँ माहिये नूँ वेखण दे

१. —'शूँ-शूँ करती रेलगाड़ी आ गई
लड़कियों में मैं सुन्दरी हूँ
लड़कों में तुम सुन्दर हो
२. गाड़ी स्टेशन पर आ गई
परे हट, ओ बाबू
हमें अपने माहिया को देखने दो।'

रेलगाड़ी की शूँ-शूँ सजनी के कानों में गूँज उठी। रेलगाड़ी की गति से ही मन में यह भाव आया कि यह जोड़ी अच्छी रहेगी।

यहाँ माहिया से उन दिनों की याद ताजा हो गई है जब गाँव के समीप से रेलगाड़ी नई-नई गुज़रने लगी थी। पास के स्टेशन पर सजनी अपने माहिया की बाट जोह रही थी। गाड़ी आई, माहिया नीचे उतरा। सजनी यह कैसे सहन कर सकती थी कि रेल के बाबू की ओट में उसका माहिया एक क्षण के लिए भी उसकी आँखों से ओझल हो जाय?

कई बार ऐसा भी होता है कि सजनी के लिए प्रतीक्षा की घड़ियाँ बहुत लम्बी हो जाती हैं। एक-एक दिन पहाड़-सा प्रतीत होता है, काटे नहीं कटता। किसी तरह सजनी ने अपने जी को विश्वास दिलाया कि नये गेहूँ की ऋतु में माहिया अवश्य लौट आयगा।—

१. कणकाँ दी राही होसी
उग्ग पइयाँ कणकाँ
आऊँदा मेरा माही होसी
२. कणकाँ दी राही होसी
जग पइयाँ वत्तीयाँ
टेसन उतरियाँ माही होसी
३. गड्डी आ गई लहौर वाली
टिकटाँ न देईं, बाबू
साडी रात जुदाई वाली
४. पैसे दे खोड़ लवां
जे वस्स होवे आवणा
गड्डी पिछाँह वल्ल मोड़ लवां

१. —'गेहूँ की रखवाली की जायगी
गेहूँ उग आये
मेरा माही आता ही होगा
२. गेहूँ की रखवाली की जायगी
बत्तियाँ जग गईं
स्टेशन पर मेरा माही उतरा होगा
३. लाहौर वाली गाड़ी आ गई
टिकट मत देना, बाबू
हमारी रात जुदाई वाली है
४. पैसे के अखरोट लूँ
अगर अपना बस चले
गाड़ी को पीछे की ओर मोड़ लूँ ।'

एक पैसे के अखरोट खरीद कर शायद वह्नी किसी पीर-फकीर अथवा देवी-देवता की मन्नत मानना चाहती है, पर इसी पैसे की तलाश में तो माहिया को घर छोड़ कर बाहर जाना पड़ा है।

माहिया में एक तड़पन और दीवानगी का चित्रण रहता है। इधर कहीं-कहीं माहिया के लिए बालो शब्द का प्रयोग भी होने लगा है। कहीं-कहीं इसे बारहो भी कहने लगे हैं। पर बालो और बारहो नामक प्रेमिकाओं को सम्बोधित कर के गाये गये माहिया के टप्पे कहीं सीमित प्रेरणा लिये हुए हैं। माहिया का मुक्त रूप ही अधिक मनभावन और सरस है।

कहीं-कहीं माहिया के टप्पे से पहले एक अन्य छंद जोड़ कर माहिया के गीतों में वैचित्र्य लाने का यत्न किया गया है—

टुप टुप टुप

निक्का वाण मंजी बुण
कन्न धर के सुण, वे माहिया
मुँह त्रेल च धो गये ओ
मैले साडे कपड़े, चन्ना
आशक काहीं उत्ते हो गये ओ

—'तुन तुन तुन
महीन बान से खाट बुन
कान लगा कर सुन, ओ माहिया
तुम ओस में मुँह धो गये
हमारे कपड़े तो मैले हैं, ओ चाँद
तुम किस पर आशिक हो गये ?'

मैले वस्त्रों से जैसे सजनी का सौन्दर्य दोबाला हो गया हो; यह सब जानते हुए जैसे वह माहिया के मुख से इसके बारे में एक-आध बोल अवश्य सुन लेना चाहती हो।

माहिया के टप्पे से पहले कोई पैवन्द जोड़ने का बहुत प्रचलन दिखाई नहीं देता। अतः इसे एक प्रकार का उल्लंघन या अतिक्रमण ही समझना चाहिये।

माहिया की लोकप्रियता का सब से बड़ा कारण है वह वेदनापूर्ण सरगम जिस पर माहिया के शब्द पंख लगा कर उड़ने लगते हैं। चौपालों पर अलाव के गिर्द बैठा कोई मनचला युवक माहिया छेड़ देता है, या जब खेतों की खुली हवाओं में माहिया के टप्पे समूचे वातावरण पर छा जाते हैं, पास गुज़रता हुआ कोई बड़े से बड़ा संगीतज्ञ भी कुछ क्षणों के लिए यह सोचने पर मजबूर होता है—अरे अरे, संगीत के इस उद्गम से मैं कितनी दूर भटक गया था!

रात्रि के शान्त वातावरण में माहिया हवा की लहरों पर यों तैरता है जैसे कमल का फूल पानी की लहरों पर तैरता चला जाय। हो सकता है श्रोता के कान माहिया की शब्दावली से परिचित न हों, या यह कहिये कि वह पंजाबी भाषा से एकदम अनभिज्ञ है, फिर भी माहिया का प्रभाव तो उस पर पड़ेगा ही। माहिया गायक ने अपना स्वर छेड़ दिया। हवा थर्राई। लहरें उठीं। एक हूक सी जगी। एक पीड़ा जो स्वयं किसी घायल मानवता की प्रतीक प्रतीत होती है। यह दर्द तो सहा नहीं जाता। जैसे धरती के रोम-रोम से एक दर्द फूट निकला हो।

माहिया के स्वरों का एक ही सन्देश प्रतीत होता है—'टप्पे शप्पे कोई नी चन्ना, दिल दा साड़ कढ़ेनी आँ।'—टप्पे-शप्पे कोई नहीं, ओ चाँद, दिल के साड़ निकाल रही हूँ! दिल की जलन जैसे समस्त विश्व पर छा रही हो।

कहते हैं लखनऊ के एक शायर ने किसी पंजाबी गायक के मुख से 'हीर' सुन कर मुक्त-कंठ से गायक को दाद देते हुए कहा था—

/सुनाया रात को किस्सा जो हीर रांझे का,
तो अहले दर्द को पंजाबियों ने लूट लिया!

यदि लखनऊ के उस शायर को माहिया सुनने को मिलता तो शायद उसे ऐसा ही एक और शेर कहना पड़ता, क्योंकि माहिया बड़े दर्दीले दिल का गान है; यही दर्दीलापन इसकी

विशिष्ट शैली की विशेषता है—कविता की दृष्टि से और संगीत की दृष्टि से।

साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि विश्व की लघु कविता में जापानी 'हाकू' के समान पंजाबी माहिया को भी प्रमुख स्थान मिल सकता है।

: ३ :

माहिया से हट कर हमारा ध्यान सीधा ढोला पर आ टिकता है। वैसे ढोला और माहिया का एक ही अर्थ है—साजन। पर माहिया और ढोला की शैलियों का अलग-अलग विकास हुआ है। काव्य और संगीत, दोनों दृष्टियों से।

ढोला-मारू की राजस्थानी प्रेम-गाथा से एकदम अपरिचित, पंजाबी गायक ढोला का प्रयोग करते समय किसी कथा-विशेष का आश्रय नहीं लेता। हाँ, कहीं हल्के और कहीं गहरे रंगों में ढोला के बोल साजन का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

आकार की दृष्टि से ढोला विश्व की संक्षिप्ततम कविता से होड़ नहीं ले सकता, क्योंकि इस दिशा में तो माहिया ही बाजी मार ले गया है। जहाँ माहिया के स्वर सीधे रूह में उतरने की क्षमता रखते हैं, वहाँ लोच और दर्द की दृष्टि से ढोला का सरगम महिया के स्वरों पर हावी हो सकता है।

माहिया के समान ढोला के स्वरों में भले ही वह फैलाव न हो जो विद्युत् वेग से बढ़ कर क्षितिज तक को छू लेता है, माहिया की चित्र-सुलभ शैली का वह रूप भले ही ढोला में नजर न आये जिसके अनुसार गायक स्वरों के फैलाव द्वारा उस विशाल कैन्वेस की सृष्टि करता है जिस पर स्वरों के दो-चार स्पर्श ही रंग भर देते हैं, पर ढोला की अपनी विशेषता है। स्वरों की गहराई जो अपनी जगह बड़े-से-बड़े फैलाव से होड़ ले सकती है। दिल की गहराई से ढोला के स्वर चोट करने वाली गूँज के साथ निकलते हैं और ढोला गायक को फेफड़ों की पूरी शक्ति से गाना पड़ता है।

ढोला की चर्चा करते हुए अहमद नदीम कासिमी लिखते हैं—"ढोला अब से पन्द्रह-बीस बरस पहले सारे पंजाब में रायज था, मगर माहिया जो चन्द एक मुकामात पर बालो और बगढ़ो के अजीबोगरीब नाम से रायज है, अच्छे-अच्छे मरव्वजा गीतों से मैदान खाली कराने में कामयाब हो गया और ढोला अपने अनगिनत हम-किस्मों की तरह पंजाबी देहात की दिलरुबा शामों और मुअत्तर सुबहों में माजी की एक गूँज बन कर रह गया। माहिया की हमागीर मकबूलियत एक सीलाब की तरह बढ़ने और फैलने लगी तो इस रेले में कई ऐसे गीत भी बह निकले जो मौजू की नजाकत और लताफ़त, हैयत की महबूबियत और तर्जों के तनव्वों के लिहाज से माहिया से किसी तरह कम न थे।...माहिया की तरबीज के साथ ढोला पसमनजर में चला गया मगर गाने और सुनानेवालों के जहनों पर एक अजरी थरथरी की कैफ़ियत तारी कर गया और शायद यही सबब है कि जब चौपालों और अलाव के गिर्द बैठे हुए दहकान नौजवानों से माहिया सुनते-सुनते मदहोश हो जाते हैं तो अचानक किसी कोने से कोई अधेड़ उमर पुकार उठता है—भई, अब कुछ ढोला भी हो जाय। और ताज्जुब की बात है कि माहिया से मसहूर लोग फौरन इस भूले-बिसरे गीत को सुनने पर रजामन्द हो जाते हैं।"[1]

---

१. 'साकी', जनवरी १९४७, पृ० २२५।

अहमद नदीम कासिमी के इस वक्तव्य में माहिया के मुकाबले में ढोला को कहीं पुराना गीत सिद्ध करने का यत्न किया गया है। पर यह कहना सहज नहीं कि ढोला की शैली माहिया के जन्म से पहले ही विकसित हो चुकी थी। बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि ढोला और माहिया की शैलियाँ दोनों ही बहुत पुरानी हैं—एकदम पश्चिमी पंजाब की उपज, जहाँ से चल कर पहले ढोला मध्य पंजाब और पूर्वी पंजाब की ओर बाँहें फैलाने में सफल हुआ और फिर माहिया आया तो ढोला का रंग कुछ कुछ फीका पड़ गया। शायद इसका एक कारण यह भी था कि माहिया गाते समय फेफड़ों की उतनी आजमाइश नहीं होती जितनी ढोला गाते समय।

ढोला की इस चर्चा का सम्बन्ध पश्चिमी पंजाब के 'सान्दल बार' नामक प्रदेश में रहने-वाले जांगली लोगों में प्रचलित ढोला से जोड़ना उचित न होगा। क्योंकि ढोला के जिस लोकप्रिय रूप की चर्चा यहाँ की जा रही है वह जितना हल्का-फुल्का नजर आयगा उसके मुकाबले में जांगली ढोला उतना ही भारी-भरकम प्रतीत होगा।

ढोला का लोकप्रिय रूप देखिए—

उच्ची माड़ी ते दुद्ध पई रिड़काँ
मैनूं सारे टब्बर दीयाँ भिड़काँ
तेरा वे दिलासड़ा
जीवें ढोला
ढोला कमला
लोकाँ दीयाँ माड़ीयाँ
पवा दे बगला

—'ऊँची अटारी पर दूध बिलो रही हूँ
मेरे लिए सारे परिवार की झिड़कियां हैं
तेरा ही दिलासा है
जीओ, ढोला
ढोला दीवाना है
लोगों की अटारियां हैं
बंगला बनवा दो।'

जांगली ढोला की शैली इससे एकदम अलग है—

फद्द न मेरी बीणी, ते वंगाँ न भन्न घुट्ट के
मैं कल्ल चढ़ाइयाँ ने, बार बाम्हण तों पुच्छ के
जिरथे कीतियाँ ढोले ते मैं गल्लाँ, नित्त जा भौनिआँ उसे रुक्ख ते
धम्मी दी भज्जन लग्गीआँ, निमाशी आए ढठ्ठीआँ हुट्ट के
तोहं टुर गये ढोले तों पिच्छों मैं डिग्गी
सरथर चा मल्लिया, तीली आए होईयाँ सुक्क के

सज्जन इक्क कर मनाऊँ, जे मुट्ट गई तों पिच्छे
हाल आ वेखें ओ, मैं कड़मी दा लुक्क के

—'मेरी कलाई न पकड़ और दबा कर चूड़ियाँ न तोड़
मैंने कल ही चढ़ाई हैं ब्राह्मण से महूरत पूछ कर
जहाँ मैंने और ढोला ने बातें कीं, उस वृक्ष के नीचे मैं रोज जाती हूँ
सवेरे से भागने लगी, शाम को थक कर गिर गई
ओ ढोला, तेरे जाने के बाद मैं गिर गई
सत्थर[1] संभाल लिया, मैं सूख कर तीली हो गई
साजन को मनाऊँ, अगर मेरा दम निकल जाने पर
आकर हाल देख ले मुझ अभागिन का छुप कर।'

जांगली ढोला केवल जांगली ही गा सकते हैं। गायक के फेफड़ों में ताकत होनी चाहिए। बहुत खींच कर फेफड़ों के भीतर से स्वर निकालने पड़ते हैं। अच्छा गायक इतनी कुशलता से गाता है कि पहली पंक्ति दूसरी पंक्ति में और दूसरी पंक्ति तीसरी पंक्ति में यों मिला दी जाती है, जैसे कहीं कोई विराम न हो। पूरे गीत के अन्त में ही विराम दिखाया जाता है।

जांगली ढोला की पंक्तियाँ भी कम या ज्यादा हो सकती हैं। पाँच-छः पंक्तियों का ढोला मिलेगा, तो बीस-तीस बल्कि इससे भी लम्बा ढोला रचने की प्रथा रही है। इसके बारे में तीन बातें और जान लेनी चाहिएँ—(१) जैसे उपर्युक्त ढोला की प्रथम पंक्ति का पहला भाग है—'फड़ न मेरी वीणी' (मेरी कलाई न पकड़)—ढोला का यह आरम्भिक बोल गीत की टेक की तरह जांगली ढोला की विशेषता समझी जाती है। बीसियों नहीं, पचासों ढोला इसी बोल के शुरू होते हैं। इसी प्रकार कितने ही ढोला 'चूड़ियाँ वन्न पवन्नीयाँ' (तरह-तरह की चूड़ियाँ), 'ऊदे दी चोली' (बैंगनी रंग की चोली) 'ऐह लैजा छल्ला' (यह लो छल्ला) और 'चा के घड़ोटड़ा' (घड़ा उठा कर) से शुरू होते हैं। (२) दूसरी बात यह है कि जैसे उपर्युक्त ढोला की पांचवीं पंक्ति के दोनों टुकड़ों के बीच 'सत्थर चा मल्लिया' और छठी पंक्ति के दोनों टुकड़ों के बीच 'हाल आ वेखें आ' टुकड़े जोड़ दिये गये हैं, इसी प्रकार यह शैली गायक की भावना का अतिरेक प्रकट करती है, सच तो यह है कि बहुत कम ढोला गीत इस प्रकार के अतिरेक से बचे हुए नजर आयेंगे। (३) जांगली ढोला के अन्तर्गत ढोला शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं समझा जाता।

जांगली ढोला की बात यहीं छोड़ कर लोकप्रिय ढोला की शैली पर विस्तार से विचार करना उचित होगा।

ढोला गायक जो कुछ कहना चाहता है अकसर नारी के मुख से ही कहना पसन्द करता है—

आ ढोला इन्हाँ राहाँ ते

१. वह स्थान जहाँ किसी की मृत्यु का शोक मनाया जाय।

दीवा बालनीआँ खानगाहों ते
तेरीयाँ मन्नताँ
जीवें ढोला
ढोल जानी
साडी गली आवें तेंडी मेहरबानी

—'ढोला, इन रास्तों पर आओ
मैं खानगाहों पर दीया जलाती हूँ
तेरी मन्नतें मनाती हूँ
जीओ, ढोला
ओ ढोल जानी
हमारी गली में आओ तो तेरी मेहरबानी हो!'

अहमद नदीम कासिमी लिखते हैं—"ढोला के टुकड़ों में अरकान की तकसीम माहिया से मुख़्तलिफ़ है। माहिया की तमाम कलियां दो टुकड़ों पर मुश्तमिल होती हैं।[1] लेकिन अक्सर औकात कली के आख़िर में एक और अधखिली कली भी चिपका दी जाती है जिसका पहला टुकड़ा हस्ब मामूल बेमानी और ग़ैर-मुतल्लक़, लेकिन दूसरा टुकड़ा असल कली के बारे में गहरे और चुभते हुए इशारों से लबरेज होता है...माहिया गानेवाला पहले मुख़्तसिर टुकड़े को केवल एक मरतबा अलापता है और फिर लम्बे टुकड़े पर तान-सुर की तमाम रानाइयां सरफ़ करके उसे दो मरतबा दोहराता है। इसके बरअक्स ढोला गानेवाला नन्हें-नन्हें टुकड़ों की तकरार पर ज़ोर देता है। मेरे ख़्याल में मोसीक़ी को कमाहक़ा समझने वाले हजरात इस तकरार और उलट-फेर पर फ़न्नी लिहाज से बेहतर रोशनी डाल सकते हैं।"[2]

ढोला-गायक के स्वरों में मींड़ की गूँज एक जादू-सा पैदा कर देती है। उस समय समूचे गमक में ही नहीं समूची सृष्टि में एक प्रकार की थरथरी-सी नजर आने लगती है। जैसे स्वरों और शब्दों ने ही नहीं पूरी पृष्ठभूमि ने थरथर कंपनी का रूप धारण कर लिया हो। जैसे सब-कुछ काँप रहा हो, थरथरा रहा हो, और थरथरी के एकमात्र संकेत द्वारा गायक की रूह पर मूर्च्छना की सी अवस्था छा रही हो। ढोला की स्वरलहरी का यह कलापक्ष ही इसकी सफलता का सबसे बड़ा कारण है।

शब्दों का बोझ ढोला के प्रवाह में बाधा नहीं डालता। जल की-सी तरलता नजरों से ओझल नहीं होती। अस्वाभाविकता तो जैसे ढोला को छू तक न गई हो। एक सुगन्ध-सी उठती है, वह भी सब हल्की-हल्की-सी, ठीक वनकुसुम की-सी।

वेदना की छाप ढोला सुनने वाले के हृदय को छूती है, उसे पिघलाने की क्षमता रखती है। नारी का स्वाभिमान इतना नहीं उभरता कि सन्तुलन क़ायम न रह सके। ढोला की ताजगी का कारण यह है, कि ढोला-गायक कहीं भी जिन्दगी से मुँह नहीं चुराता।

१. जिसे अहमद नदीम कासिमी माहिया का दूसरा लम्बा टुकड़ा कहते हैं उसे भी असल में दो टुकड़े समझना चाहिए।

२. 'साक़ी' जनवरी १९४७, पृ० २२५-२६।

जीओ, ढोला
आम की फाँकें हैं
जहाँ तुमने खड़ा होने को कहा था
वहीं खड़ी हूँ

२. हम यहाँ हैं और ढोला खूड़े में
खूड़े का रास्ता दूर है
जाना भी जरूर है
जीओ, ढोला
ओ ढोल माही
किन रास्तों के
तुम हो राही ?

३. हम यहाँ हैं और ढोला पश्चिम में
हमारे सिरों के ऊपर से हल चल रहे हैं
हम सह रहे हैं
जीओ, ढोला
ओ ढोल, लोहे की सलाखें पड़ी हैं
चल, ओ दिल
हम कहीं डूब मरें

४. हम यहाँ हैं और ढोला मनसेहरे में
मैं मर गई तो मेरा खून तेरे माथे पर होगा
ओ मेरे खून के जामिन
जीओ, ढोला
ओ ढोल जानी
मरे हुए बन्दे की
क्या है निशानी ?'

हल्के और गहरे रंगों में नारी अपनी बात कहती है। सचाई की छाप ही उसे प्रिय है। वह चाहती है कि ढोला घर लौट आये और उसके पास रहे। उन कारणों पर वह ध्यान नहीं दे पाती जिनके मारे ढोला को घर छोड़ने पर मजबूर होता है।

आर्थिक कठिनाइयाँ ही उसे घर छोड़ने पर मजबूर करती हैं। यह सामाजिक तत्त्व कहीं-कहीं ढोला के शब्दों को छू गया है, या यह कहिए कि ढोला गायक यत्न करने पर भी ढोला को इस तथ्य से बचा कर नहीं रख सका कि यदि घर बैठे पेट भर जाता तो ढोला कभी घर छोड़ कर न जाता।

ढोला घर पर नहीं, बाजार में तरह-तरह की चीजें बिकती हैं। ढोला के बिना कुछ भी तो खरीदने को मन नहीं होता। हाँ, ढोला घर पर होता तो उससे तरह-तरह की चीजें खरीदने की फ़रमाइश की जाती। इस पृष्ठभूमि पर ढोला के अनेक बोल उभरते हैं—

१. —'बाजार में बिकती है तोरी
नरम-नरम फुहार पर लूहरी[1]' चल पड़ी
सर्दी लग रही है
जीओ, ढोला
ढोला जल-सिंचित देश का वासी है
बाजरे की रोटी है
और छाछ का प्याला
२. बाजार में बिकती है गानी[2]
ढोला ने दीवार की दूसरी तरफ़ से पानी माँगा
मैं उसे दूध का प्याला भर दूँगी
जीओ, ढोला
ओ ढोल, ओ शृद
देर से मैंने तुम्हें मना रखा है
अब रूठ कर न जाना
३. बाजार में बिकती हैं गन्दलें
तुम पन्द्रह दिन बाद लौटने को कह गये थे
एक मुद्दत गुजार दी
जीओ, ढोला
ओ ढोल, तुम भैंसों के चरवाहे हो
मैंने तुम्हें छुटपन से पाला है
किसी का मत बन जाना
४. बाजार में बिकता है तराजू
मैं सूख-सूख कर लकड़ी हो गई
तेरे ग़म में
जीओ, ढोला
ओ ढोल प्यारे
नौकरी को दफ़ा करो
तुम अपना नाम कटा लो
५. बाजार में बिकती है बरफी
मुझे छोटी-सी चरखी ले दो
दुःख की पूनियाँ
जीओ, ढोला
ओ ढोल, जंगल में
इश्क की पगडंडी पर
साँप रींग रहा है

---

१. तेज ठण्डी हवा। २. गले का जेवर जिसे युवक पहनते हैं।

इस क्रम के कुछ ढोला गान ऐसे भी मिल जायंगे जिनमें हम ढोला गायक को एकदम नये युग में सांस लेते देखते हैं। अब जब कि रेलगाड़ी गाँव के पास से गुजरती है, नारी ने विरह की पीड़ा को हमेशा के लिए ख़त्म कर देने का फैसला कर लिया है—

बाज़ार वकेन्दीयां मिरचां
लै टिकट गड्डी ते चढ़सां
पिण्डी जा लहसां
जीवें ढोला
ढोल खीवा
रात हनेरी
हुए बाल दीवा

—'बाजार में बिकती हैं मिरचें
टिकट ले कर रेलगाड़ी पर चढ़ जाऊँगी
रावलपिंडी पहुँच कर उतर जाऊँगी
जीओ, ढोला
ढोल दीवाना है
रात अँधेरी है
अरे दीया जला दो'

एक और स्थल पर नारी ढोला से कहती है कि ज़रूरत पड़ने पर उसकी पगड़ी भी गिरवी रखी जा सकती है क्योंकि जिन्दा रहना तो बहुत ज़रूरी है—

आ ढोला कुज्झ करीए
तैंडा साफा हट्टी उचे धरीए
भुक्खे वी न मरीए
जीवें, ढोला
ढोल कस्सी दा
बाजरे दी रोटी
प्याला लस्सी दा

—'आ ढोला, कुछ करें
तुम्हारी पगड़ी गिरवी रख दें
भूखे तो न मरें
जीओ, ढोला
ढोल [illegible]
[illegible] है

छाछ का प्याला !'

ढोला गान का एक रूप यह भी है जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों ने इसे धार्मिक प्रचार का माध्यम बनाना स्वीकार किया। इसके दो उदाहरण काफ़ी होंगे—

१. *बाज़ार वकेंदी झारी*
हुए आ वंज कृष्ण मुरारी
वन्सी पुकारे
जीवें कृष्णा
कृष्ण गोपाल
गोपीयां दी जिन्द गई
आ के सम्भाल

२. *एहो भांभड़ भड़के सीने*
कद जासाँ मक्के मदीने
जमजम पीवन
जीवें मौला
मौला साईं
जिन्दड़ी दे ग़म सारे
आ मुकाईं

१. —'बाजार में बिकती है झारी
अब आ जाओ, कृष्ण मुरारी
बाँसुरी पुकार रही है
जीओ, कृष्ण
ओ कृष्ण गोपाल
गोपियों के प्राण छूट रहे हैं
आके उन्हें सम्भाल ले

२. यही आग सीने में भड़कती है
कि कब मदीने जा पाऊँगा
जमजम पीने के लिए
जीओ, मौला
ओ मौला साईं
जिन्दगी के सारे गम
आ कर खत्म करो !'

ढोला का एक और रूप है, जिसमें अंग्रेज के विरुद्ध देश के राष्ट्रीय संघर्ष की आवाज को समोने का यत्न किया गया है। इसका एक उदाहरण सचमुच बहुत जोरदार है—

बाजार वकेन्दे डोके
अँग्रेज़ पराया लोक ए
समझ नदानां
जीवे गांधी
कद आवे सुराज
जिन्द कुरलांदी

—'बाजार में बिकती हैं कच्ची खजूरें
अंग्रेज है पराया आदमी
समझ ले, ओ नादान
जीओ, गांधी
कब आयगा स्वराज्य
जिन्दगी रो रही है।'

ढोला का धार्मिक और राष्ट्रीय रूप अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका और अलगोजा के स्वरों पर उड़ने वाला ढोला तो नारी की स्नेह और वेदना से सनी हुई आवा के रूप में ही मुखरित होता है।

गा रहा है कोई बेपरवाह गायक खिलन्दड़ी अन्दाज से पास के खेत में; और पगडण्डी, जिस पर थका-हारा पथिक चला जा रहा है, ढोला के स्वरों में नहा उठी। चांदनी रात और ढोला के स्वर—गायक का गला ढोला के दर्द को भीतर से निकाल कर हवा की लहरों पर उछालता है। सारा वातावरण वेदनापूर्ण हो उठा। हाथ बढ़ा कर गायक किसी ऐसी वस्तु तक पहुँचना चाहता है जिस तक पहुँचने के लिए उसके शत-शत पुरखा जी-जान से हाथ बढ़ाते रहे।

: ४ :

विवाह के गीतों में 'घोड़ीयाँ' और 'सुहाग' उल्लेखनीय हैं। 'घोड़ीयाँ' या घोड़ी के गीत वर के घर में गाये जाते हैं; सुहाग कन्या के घर में। संगीत की दृष्टि से भी इनमें बहुत भेद रहता है। विवाह में बहुत दिन पहले ही वर और वधु के घर में स्त्रियाँ मिलकर घोड़ियाँ और सुहाग गाना आरम्भ कर देती हैं। विवाह आरम्भ होने पर विशेष रूप से कन्या के घर में प्रत्येक कार्य के अपने गीत हैं; डोली या कन्या-विदा के गीत करुण स्वर में गाये जाते हैं। संगीत की दृष्टि से विवाह के गीत बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यह कहा जा सकता है कि इन पर बाहर का प्रभाव नहीं पड़ा; चिरन्तन स्वर-विस्तार ही इनका निर्देशन करता आया है।

पुत्र-जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीत भी स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं। ये भी स्वर-विस्तार की दृष्टि से 'लम्मे' गीतों का अंचल छूते प्रतीत होते हैं, पर उल्लास और हर्ष की ध्वनि इन में रंगीनी उत्पन्न कर देती है, दूसरे ढोलक का ताल इन्हें अलग कर देता है।

पंजाब के पुरुष-गीतों में 'तूँबा' प्रसिद्ध गीत है। तूँबा एक प्रकार का एकतारा होता है जो कद्दू को खोखला करके बनाया जाता है। तूँबा का गीत बहुत लोकप्रिय है—

तूम्बा वजदाई ना
तार बिना
रहिंदी ना
यार बिना
माही वे
कला मरोड़
गोरीए
गल्ल कर होर
तूम्बे दे वजान वालिया
तेरे तूम्बे दी तरज़ निराली
तूम्बा वजदाई ना
तार बिना
रहिंदी ना
यार बिना

—'तूँबा नहीं बजता
तार के बिना
मैं नहीं रहती
यार के बिना
ओ प्रियतम
कल मरोड़
ओ गोरी
बात कर और
ओ तूँबा बजाने वाले
तेरे तूँबे की तर्ज है निराली
तूँबा नहीं बजता
तार के बिना
मैं नहीं रहती
यार के बिना।'

कुछ लोग 'तूँबा' गाते समय इसका रूप कुछ-कुछ विकृत कर देते हैं कि सम्बोधनात्मक स्थानों पर 'बाबा' और 'पोतरी' (पौत्री) जोड़कर गाते हैं। तूँबा में बीच का 'टप्पा' बदल-बदल कर गीत को लम्बा करते चले जाते हैं।

पंजाबी लोकगीतों के अन्वेषक स्वर्गीय पंडित रामशरण दास ने एक बार यह विचार प्रकट किया था कि तूँबा गान की शैली यूनानी संगीत से प्रभावित है; उनके विचारानुसार इस गान का जन्म उस समय हुआ होगा जब सिकन्दर ने पंजाब पर आक्रमण किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कि पंजाबी लोकगीतों में संगीत की दृष्टि से तूँबा एकदम अलग चीज है, पर जहाँ तक

यूनानी प्रभाव द्वारा इसके जन्म की बात है, इसका सन्धान स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए।

एक और पुरुष-गीत है 'छई'। इसका रूप भी देखिए—

छई बाबा डाँग वालिया
छई
छई रन्न गई बसरे
छई
मोड़ीं बाबा डाँग वालिया
छई
रन्नां वालियां दे पक्कन परौंठे
छड़ियां दे अग्ग न बले
छई
छई रन्न गई बसरे
छई
तेरीयां मुआवां गुड्डीयां
छई

—'छई, डाँग[1] वाले बाबा
छई
छई, स्त्री बसरे की तरफ़ गई
छई
उसे मोड़ना, ओ डाँग वाले बाबा
छई
पत्नियों वालों के यहाँ पकते हैं परौंठे
कँवारों के यहाँ आग नहीं जलती
छई
छई, स्त्री बसरे की तरफ़ गई
छई
तेरी खबर लूँ
छई !'

बसरे के प्रसंग से स्पष्ट है कि छई गान का जन्म सन् १६१४ के महायुद्ध के पश्चात् हुआ था। इसमें भी बीच का टप्पा बदल-बदल कर गीत को लम्बा करते चले जाते हैं।

तूँबा और छई की गान-शैली लोक-संगीत की दृष्टि से एकदम अलग जा पड़ती है; दोनों पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है।

१: लम्बी लाठी।

लोकनृत्य की पृष्ठभूमि

साजा रूख
अवाक चिरई
हाले रूख
गाये चिरई !

—एक गोंड पहेली

'साज वृक्ष पर एक अवाक चिड़िया बैठी है; वृक्ष को भं पर चिड़िया गाने लगती है !' इस पहेली का उत्तर है पायल के अखाड़े की ओर जाती हुई गोंड युवती का चित्र इस पं शब्दों में उभरता है। गोंडों का करमा नृत्य विश्व के महान नृत्यों की श्रेणी में स्थान पा सकता है। करमा के अखाड़े मे स्त्री-पुरुष मिलकर नाचते हैं और ढोलिए कबीले की स आशाओं-उमंगों को अग्रसर करते हैं, प्रत्येक गोंड युवती के पायल जाग उठती है—साज वृक्ष पर सोती हुई अवाक ि की तरह।

भारतीय लोक-नृत्यों में आदिवासियों के नृत्य अलग स्थान हैं। आदिवासियों की परम्पराएं और चिरन्तन विश्वास उनके न मूर्तिमान हो उठते हैं। समय-समय पर पुराने नृत्यों के साथ नृत्यों की योजना के लिए भी स्थान रहता है। शिकार, मधु- या किसी भी अन्य सामाजिक क्रिया को अभिव्यक्त करने की नृत्य का माध्यम अपना सकती है। छोटा नागपुर की आ जातियों के लोक-नृत्य विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य हैं। ए मुण्डा, उराँव—सभी के अलग-अलग नृत्य हैं। सन्थालों के अधिक सुन्दर और कलापूर्ण प्रतीत होंगे। पर अधिक स देखने पर आदिवासियों के नृत्यों में एकता के रंग दिखाई जीवन की प्रत्येक क्रिया—खेत बोने से लेकर फसल काटने त

एक कार्य की बारीकियाँ, सामाजिक उत्सवों, मेलों और हाट-बाजारों की चहल-पहल—जीवन का यह चलचित्र लोकनृत्य की पृष्ठभूमि में बार-बार झाँक उठता है। जादू-टोने की क्रियाएँ, पंचायत-संचालन; वीरता, विवेक और शारीरिक सज-धज के प्रति जन-समूह का दृष्टिकोण; वर्षा ऋतु की पहली बदली बरसने पर धरती से उठती हुई सोंधी सुगन्ध; विभिन्न रंगों के प्रति आकर्षण—जीवन के इस प्रतिपल नूतन होते चित्र की छाप लोकनृत्य में ताजगी लाती रहती है।

आसाम के आदिवासियों में नागा, खासी, गारो आदि जातियों के लोकनृत्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए; प्रत्येक जाति-समूह की पसन्द और नापसन्द का पूरा विवरण उनके नृत्यों में देखने को मिलेगा। जिन्हें हम मूक और पिछड़ी हुई जातियाँ समझते हैं उनके लोकनृत्य उनकी संस्कृति के सवाक चलचित्र प्रस्तुत करते हैं।

उड़ीसा के आदिवासियों में कोंद और सावरा जातियों के नृत्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन नृत्यों में ढोल की आवाज लोक-कला के विकास की गाथा सुनाती है। युवक-युवती की सर्वप्रथम भेंट किस प्रकार मैत्री में परिणत हो जाती है—इसका परिचय किसी-न-किसी नृत्य में अवश्य मिलेगा। प्रत्येक नृत्य में जाति-समूह अपनी स्मृति के बहीखाते को टटोलता दिखाई देता है। जीवन का चाव-दुलार, सामाजिक उत्साह-उल्लास, इतिहास के घूमते हुए पहिये—यह सब पग-से-पग मिला कर नाचती हुई युवतियों की मुख-मुद्रा पर बार-बार झलक उठता है। लोकनृत्य के बोल स्वयं धरती के बोल बन जाते हैं; उसका संगीत वृक्षों और खेतों का संगीत बन जाता है। जैसे स्वयं प्रकृति नाच उठी हो और उसके साथ शत-शत मनुष्यों की आशा-निराशा का इतिहास झंकृत हो उठा हो।

मुझे याद है कि जब मैंने सर्वप्रथम अपने ग्राम में पंजाबी लोकनृत्य गिद्धा को सम्बोधन करते हुए ग्राम की युवतियों को पग-से-पग मिला कर नाचते देखा था, तो प्रतीत हुआ था जैसे स्वयं धरती ने इन युवतियों का रूप धारण कर लिया है और गिद्धा को सम्बोधन करने की चिरन्तन परम्परा में एक कड़ी और जोड़ दी है। गिद्धा नृत्य का यह बोल आज भी मेरी आत्मा को छू छू जाता है—

गिद्धिया, पिण्ड वड़ वे
लाम्हे लाम्हे न जाईं

—'ओ गिद्धा, गाँव में प्रवेश करो
बाहर-बाहर से न जाना।'

सर्वप्रथम गिद्धा नृत्य का यह बोल सुनने पर पूरा चित्र मेरे सम्मुख नहीं उभरा था। युवतियों को भय है कि कहीं गिद्धा ग्राम के बाहर-बाहर से ही दूसरे ग्राम की ओर न निकल जाय। गिद्धा ग्राम-ग्राम घूम रहा है और प्रत्येक ग्राम की युवतियों की इच्छा है कि वह उनके ग्राम में अवश्य पधारे।

सावन में गिद्धा के बोल हवा में तैरते रहते हैं; हवा की लहरों से इन्हें छूकर [illegible] कोई मनचली युवती गिद्धा के ताल पर नाचने लगती है। जैसे गिद्धा किसी [illegible] जा सकता है और विवाह के अवसर पर तो इसे [illegible] नहीं।

गुरु नानक की कविता इस तथ्य की परिचायक है कि उन्होंने गिद्धा नृत्य का रस लिया था। वे एक स्थल पर कहते हैं—'नानक गीधा हरिरस माँहि।' पुरानी पंजाबी में गिद्धा के लिये गीधा शब्द का प्रयोग हुआ है। गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हरिरस में भी गिद्धा का-सा आनन्द अनुभव किया जा सकता है।

लोकनृत्य के विभिन्न रंगों में सबसे बड़ा सामंजस्य यही रहता है कि जनता की सामूहिक प्रतिमा विकास की विभिन्न मंजिलों को पार करते हुए अग्रसर होती है। इस धरातल पर पंजाबी गिद्धा और भोजपुरी झूमर गले मिलाते नजर आयेंगे। किस नृत्य का क्या रंग है, इस पर तो पूरा ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

एक भोजपुरी झूमर लीजिए—

काहे मन मारी खड़ी गोरी अँगना
धरती के लँहगा
बादरी के चोली
जोन्हीं के बटम
कसनी दुनों जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अँगना
रूपे के बाजूबन
सोने के कँगना
रेशम के चोली
ढकबी दुनो जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अँगना
टूटी जइहें बाजूबन
फूटी जइहें कँगनवा
फाटी जइहें चोली
लटकी जइहें जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अँगना
बनी जाई बाजूबन
जुटी जाई कँगना
सिया जाई चोली
उठाई देबों जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अँगना

—'मन मारे क्यों खड़ी हो, गोरी, आँगन में?
धरती का लंहगा
बादली की चोली
जुन्हाई के बटन

कसूँगी दोनों उरोज
मन मारे क्यों खड़ी हो, गोरी, आँगन में ?
चाँदी के बाजूबन्द
सोने के कँगन
रेशम की चोली
ढक लूँगी दोनों उरोज
मन मारे क्यों खड़ी हो, गोरी, आँगन में ?
टूट जायँगे बाजूबन्द
फूट जायँगे कँगन
फट जायगी चोली
लटक जायँगे उरोज
मन मारे क्यों खड़ी हो, गोरी, आँगन में ?
बन जायँगे बाजूबन्द
जुड़ जायँगे कँगन
सी लेंगे चोली
उठा देंगे उरोज
मन मारे क्यों खड़ी हो, गोरी, आँगन में ?'

किस प्रकार झूमर नाचा जाता है, गोल दायरे में, किस प्रकार लँहगे हवा की लहरों पर तैरते हैं—इसका कुछ अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है। और जब गोरी का लँहगा भी उड़ेगा तो धरती की आशाएँ और उमंगे उड़ेंगी, क्योंकि गोरी का लँहगा धरती से बनाया गया है।

किसी लोकनृत्य पर हरे-भरे खेतों का रंग नजर आयगा तो किसी पर स्वयं धरती का ही कोई विशेष रंग, जिसके पीछे से अनगिनत शताब्दियों की सांस्कृतिक परम्पराएं झाँक उठती हैं। इन परम्पराओं में सोये देवताओं को जगाने की भावना भी रहती है। जैसे देवालयों की मधुर घण्टियाँ एक-साथ बज उठें। सोते देवताओं को तो देवालय की घण्टियाँ ही जगा सकती हैं। प्रार्थना के स्वर अनेक लोकनृत्यों में युगयुग से एक नई ही शक्ति का संचार करते आये हैं।

ऐसा ही एक नृत्य है जिसे बंगाल के मछेरे नाचते हैं। खेत सूख गये। वर्षा नहीं हुई। वर्षा की कोई आशा नहीं रही। इस निराशा में एक बार आशा का रंग उभरता है, जब ग्रामवासी एक स्थान पर एकत्रित हो कर पग में पग मिला कर नाचते हैं और गाते हैं—

अल्ला मेघ दे
पानी दे
छाया दे
(तुई) अल्ला मेघ दे
आस्मान होइलो टूडा-टूडा
जमीन होइलो फाडा

मेघराजा घुमाइया रोइछे
पानी दिबो के ?
अल्ला मेघ दे
पानी दे
छाया दे
(तुई) अल्ला मेघ दे

—'अल्ला, मेघ दे
पानी दे
छाया दे
अल्ला, मेघ दे
आकाश टूटा-फूटा है
धरती चटख़ गई है
मेघराजा सोया पड़ा है
पानी कौन देगा ?
अल्ला, मेघ दे
पानी दे
छाया दे
अल्ला, मेघ दे।'

भगवान् के लिए अल्ला शब्द का प्रयोग किसी को भी अखरता नहीं। हिन्दू-मुसलम मिलकर नृत्य के ताल पर पग उठाते हैं। उस समय मानो आसपास के वृक्ष भी झूम उठते खेत अँगड़ाइयाँ लेते हैं।

देश-देश के लाखों-करोड़ों मनुष्यों के हृदय की धड़कनें लोकनृत्य में ताजा लहू की प्रदान करती रही हैं। लाखों-करोड़ों मनुष्यों के सुख दुःख की परिचायक कला ही धरती की वास्त कला कहलाने का अधिकार रखती है; दूसरी कोई कला इसके सम्मुख नहीं टिक सकती। लो नृत्य में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं चल सकती।

यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है। भारतीय लोकनृत्यों की ओर हमारा ध्यान पूरी त क्यों नहीं गया ? भारतीय फिल्मों में आज जिस प्रकार के भौंडे नृत्य देखने को मिलते हैं, देखते हुए बार-बार यह कहने को मन होता है कि यह कुरुचिपूर्ण कहानी कब खत्म होग लोकनृत्यों के नाम पर ऐसे-ऐसे प्रदर्शन प्रस्तुत किये जाते हैं जिनके साथ हमारी जनता का का भी सम्बन्ध नहीं होता। कहीं-कहीं किसी वास्तविक लोकनृत्य की झलक भी देखने को मि जाती है। उस समय सचमुच मन उछल पड़ता है, और यदि दर्शक ने वास्तविक जीवन में लो नृत्यों को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त किया है तो वह सोचने लगता है—ये लोग फिल्में बनाते हैं, कभी-कभी केवल चटनी के रूप में ही वास्तविक लोकनृत्य की झाँकी दिख की बजाय अवसर आने पर सदैव वास्तविक लोकनृत्य का सम्पर्क प्रस्तुत करने की व्यवस्था क नहीं करते ?

भारतीय लोकनृत्यों के आलेख-चित्र (डोकूमेण्टरी फ़िल्म) तैयार किये जाने चाहिएं। ये चित्र शिक्षा और मनोरंजन के बहुत बड़े माध्यम बन सकेंगे। जिन लोगों ने देश को पूरी तरह देखा नहीं और जो केवल नक्शे पर विभिन्न शहरों के नामों पर उँगली रख कर ही सोचने लगते हैं कि यह है उनका प्यारा भारत, वे भारतीय लोकनृत्यों के आलेख-चित्र देख कर जन्मभूमि के साथ वास्तविक आत्मीयता का अनुभव कर सकेंगे।

भारतीय लोकनृत्य पूछते हैं—'हमारी ओर कोई ध्यान क्यों नहीं देता?' लाखों-करोड़ों मनुष्यों द्वारा नाचे जाने वाले नृत्य यदि यह प्रश्न पूछते हैं तो उत्तर अवश्य देना होगा। जिस कला में जनता का दिल तेज-तेज धड़कता है, जिस कला में जनता के लहू को गरमाने की क्षमता है, जिस कला में सामाजिक चेतना के पहिये घूमते हैं, उस कला को देखा-अनदेखा नहीं किया जा सकता।

लोकनृत्यों की पृष्ठभूमि में लोक-कला की प्रगतिशील चेतना का इतिहास निहित है; इस चेतना के सम्मुख जीवन में न कोई घुटन टिक सकती है न किसी प्रकार के बन्धन पल-पल आगे बढ़ने वाले आदमी को बाँध कर रख सकते हैं।

जिस प्रकार एक कवि यह सोचता है कि वह अपनी ताजा लिखी हुई कविता अपनी प्रेयसी को भेंट करे, उसी प्रकार जब एक जन समूह अपना चिर-पुरातन नृत्य प्रस्तुत करता है तो उसे अनुभव होता है कि उसका नृत्य आज भी नया है और आज भी इसकी रगों में वही लहू दौड़ रहा है जो हज़ारों वर्ष पहले दौड़ने लगा था। यही वह विशेषता है जो किसी भी लोक-नृत्य की पृष्ठभूमि में नये रंग भरती है।

खुली हवाओं के मुख से

: १ :

बचपन में हमारे गाँववाले हवाओं की बातें करते थकते न थे। पुरा बहुत गरम होता है—यों पुरवाई अथवा पुरवैया की चर्चा आरम्भ होती; पुरवाई का पुलिंग वाचक शब्द पुरा (पुरवा का पंजाबी रूप) ही प्रयोग में लाया जाता था। कोई कह उठता—पुरा ने आँखें अन्धी कर दीं। पुरा की भर्त्सना करते हुए कहा जाता—'आखे पुरा, ओह वी बुरा, जट्ट दे हत्थ विच्च धुरा, ओह वी बुरा, बाम्हण दे हत्थ विच्च छुरा, ओह वी बुरा', अर्थात् जिसे कहते हैं पुरा, वह भी बुरा है, जाट के हाथ में धुरा, वह भी बुरा है, ब्राह्मण के हाथ में छुरा है, वह भी बुरा है। कभी कोई बुढ़िया दादी अपना अनुभव बघारती—'पुरे दी कणक नूँ ढोरा सुरसरी बहुत लगदी ए' अर्थात् पुरे के गेहूँ में 'ढोरा' और 'सुरसरी' अधिक पड़ती हैं, यहाँ उसका संकेत इस बात की ओर भी रहता कि पुरा प्रायः चैत्र में अधिक चलता है जब गेहूँ पकने पर तैयार हो जाता है। लोग पुरा के बारे में बातें करते हुए कहते—पुरा ज्येष्ठ, आषाढ़ और सावन में अधिक चलता है, वैसे किसी भी मौसम में चल सकता है, इससे बादल आ जाता है, क्योंकि इसके साथ बादल का घना सम्बन्ध है। कभी-कभी कपास की बातें करते हुए भी किसी अनुभवी किसान के मुँह पर शिकायत का बोल यों उभरता—पुरा चले तो कपास का फल चढ़ते भादों में झड़ जाता है, पुरा सब से बुरा है।

पुरा की अपेक्षा 'पच्छों' अर्थात् पछवाँ को सर्वोत्तम माना जाता था। लोग बातें करते हुए कहते—'पच्छों दी रीस नहीं!' अर्थात् पछवाँ का कोई मुकाबला नहीं। यह हवा पौष, माघ में दो-दो तीन-तीन दिन तक चलती रहती, इससे कोहरा जम जाता।

'पहाड़' अर्थात् उत्तरीय वायु के सम्बन्ध में बड़े-बूढ़े यह कहते सुनाई देते—'पहाड़ जेठ हाड़ विच पन्द्रां-पन्द्रां दिन तीक चल्ल सकदा ए, सियालों निच वी तिन्न-तिन्न दिन वग पैंदा ए कदी-कदी; इस नाल कदी-कदी ते श्रोह वी बहुत घट्ट बद्दल औंदा ए।' अर्थात् पहाड़ की हवा ज्येष्ठ-आषाढ़ में पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक चलती है, जाड़े में भी तीन-तीन दिन तक चल पड़ती है यह हवा; इसके साथ कभी-कभी और वह भी बहुत कम बादल आता है।

दक्खिन अर्थात् दक्खिनी हवा के बारे में यह मशहूर था कि यह हमेशा अपने साथ आँधी लाती है। लोग कहते सुनाई देते—'दक्खिन ते लू सकीयाँ भैरणा हन।' अर्थात् दक्खिनी हवा और लू सगी बहनें हैं। कोई बूढ़ा किसान दाढ़ी-मूछों पर हाथ फेरते हुए कहता—'दक्खिन जोर नाल चल्ले ताँ ढाई पहर विच्च ही बरखा आ सकदी है ते उंज महीना-महीना वी चलदी रहे तां वी बरखा नहीं औंदी।' अर्थात् दक्खिनी हवा जोर से चले तो ढाई पहर में ही वर्षा आ सकती है और वैसे महीना-भर चलती रहे और वर्षा न आये। वैशाख-ज्येष्ठ-आषाढ़ ही दक्खिनी हवा का मौसम समझा जाता, वैसे तो दूसरे मौसम में भी चल सकती थी यह हवा। अनुभवी किसान आपस में बातें करते हुए कहते कि दक्खिन गरम हवा है और खेतों की नमी को सुखाती चलती है। पुरानी कहावत दोहराई जाती—'दक्खिन गिठ धरती रोज सुकौंदा ए।' अर्थात् दक्खिनी हवा हर रोज एक बालिश्त धरती सुखाती है। एक और कहावत भी मशहूर थी—'चेत कैंहदा ए जे मेरे मूहरे वसाख ते जेठ न होण ताँ मैं कन्धाँ ते वी घा उगा सकदा हाँ।' अर्थात् चैत्र कहता है यदि मेरे सामने ज्येष्ठ-वैशाख न हों तो मैं दीवारों पर भी घास उगा सकता हूँ। चैत्र में मींह पड़ने से किसानों का कितना नुकसान होता, इसकी एक चीत्कार एक और कहावत में सुनाई दे जाती—'वर्हिया चेत घर न खेत।' अर्थात् चैत्र में मेंह पड़ा, फसल न खेत में बच सकी न घर आ सकी। गेहूँ, जौ, चने—सब तैयार होते हैं, इन दिनों मेंह आये तो साथ ओले और भी नुकसान करते हैं।

हवाओं के साथ हमारे गाँव वालों की यह आत्मीयता कितनी सार्थक है, इसका अनुमान कुछ वही लोग कर सकते हैं जिनका जीवन खुली हवाओं की गोद में बीता है। लोक-जीवन की दैनन्दिनी में प्रकृति के प्रति पृथिवीपुत्रों का सहज भाव-निवेदन खुली हवाओं को छू-छू जाता है। यह दृष्टिकोण अतीत और वर्तमान के बीच सांगोपांग विवेचन की पूर्ति का परिचायक है। प्रतिपल भूत के रूप में परिणत होता वर्तमान, प्रतिपल वर्तमान में परिणत होते भविष्य के सम्मुख यह कहने की चेष्टा करता आया है कि हवाओं का क्रमबद्ध सम्पर्क मानव की प्रगति का प्रतीक रहा है।

हवाएँ कहाँ तक मानव की दिनचर्या में सहायक सिद्ध होती हैं? कैसे कोई हवा मानव की क्षमताओं पर अट्टहास करती विजयिनी की भाँति सरपट घोड़ा दौड़ाने वाले सवार की तरह पास से गुजर जाती है? क्या खुली हवाएँ मानव के प्रति उत्तरदायी होने से एकदम मुनकर हो सकती हैं? इन प्रश्नों के उत्तर लोक-साहित्य में ढूँढे जा सकते हैं।

हवा की विशेषता केवल नवीनता की परिधि में ही नहीं समा सकती, न अतिरंजन ही

किसी हवा की शिष्टता की परिचायक हो सकती है। अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल, हवा की विशेषता इसी में है कि वह अपनी दिनचर्या में किसी के साथ रिआयत बरतने की बजाय अपनी निर्दिष्ट दिशा में चलती रहे।

देश-देश के लोक-साहित्य में हवाओं का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया गया है जैसे उनके साथ मानव का मेल-अनमेल दोनों ही महत्वपूर्ण हों। किसी हवा पर मानव मुग्ध हो उठता है तो किसी की उच्छृङ्खलता पर उसे बुरी तरह क्रोध आता है। वायु परीक्षा-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन और मार्मिक चित्रण हमें मानव के भावना-द्वार पर ला खड़ा करता है।

प्रकृति का सहवास मानव को अकर्मण्य होने से बचाता है। जिस मिट्टी से उसका जन्म हुआ उसका निकट सम्पर्क उसे अपने कर्तव्य की याद दिलाता है। कभी-कभी प्रकृति क्रुद्ध हो उठती है, जीवन में गतिरोध-सा आ जाता है। पर शीघ्र ही जीवन की नैसर्गिक अभिव्यक्ति सृजन की विश्वजनीन विह्वलता लेकर राजपथ पर चलती नजर आने लगती है। मानव द्रष्टा की-सी एकनिष्ठता के साथ भविष्य का अंचल छूने के लिए हाथ बढ़ाता है, ममत्व-वेदना उसकी दिनचर्या का निर्देशन करती है, खुली हवाएं उसे विचार और कर्म की संकीर्णता से बचाती हैं। मानव का यह विश्वास कि वह मिट्टी का पुतला-भर नहीं है, उसे सृजनशील रखता है, मिट्टी से सोना उगाने का उसका आग्रह उसका पथप्रदर्शक बनता है। हाड़-मांस के पीछे मानव मन की तीर्थ-चरण चेतना प्रति पल एक नूतन प्रगति-बिन्दु की ओर संकेत करती है। मिट्टी का पुतला प्रत्येक युग में संघर्ष का प्रतीक बन कर सामने की ओर मुँह किये चलता नजर आता है। खुली हवाएं उसके मन में अपूर्व साहस भरती हैं। मन्त्र-तन्त्र और टोने-टोटके की भूल-भुलैयों से मुक्त होता हुआ आदि मानव अपने अनुभव को ही अपना पाथेय बना कर आगे बढ़ा था, प्रगति की प्रत्येक मंजिल से आगे बढ़ने में मानव की यही प्रवृत्ति उसकी सहायक रही है।

: २ :

खुली हवाओं का सन्देश सुनने के लिए महाकवि कालिदास की-सी प्रतिभा चाहिए। गुप्तकालीन भारत के इस कवि ने इन्दुमती के स्वयम्बर की चर्चा करते हुए यह अनुभव किया था कि देश के पराक्रम ने निश्शेष रूप से महासागर के जलों का पान कर लिया है, रत्नों से भरे हुए महार्णव के मेखला-दाम से अलङ्कृत पृथिवी राष्ट्रीय तेज की उपासना कर रही है, सागर की लहरें अपनी गम्भीर ध्वनि से देशवासियों को जगा रही हैं, देश का यश पर्वतों पर चढ़ कर उन्हें लांघ गया, समुद्रों की सीमाओं को पार करते हुए द्वीपान्तरों में फैल गया, पाताल भी उससे अछूता नहीं रहा, और स्वर्ग तक ऊँचा उठकर उसने दिव्य आदर्शों का स्पर्श किया, महाकवि ने इसी प्रसंग में यह भी अनुभव किया था कि द्वीपान्तरों से आने वाली हवाएं लवंगलता के पुष्पों की सुगन्धि अपने साथ ला रही हैं।[1]

निस्सन्देह जब भारतीय नाविक खुली हवाओं का संदेश सुनते हुए सागर-यात्रा के लिए निकलते थे, शत-शत कहानियों में उनका अनुभव मोतियों की तरह जड़ा गया। कथासरित्सागर में समुद्र-पार की हवाओं का स्पर्श करने वाली कहानियों की कमी नहीं। एक कहानी का नायक है धनी सेठ का मूर्ख लड़का। वाणिज्य के लिए वह समुद्र पार गया। उसने जहाँ और बहुत-सा माल लादा

१. रघुवंश, छठा सर्ग।

वहाँ अगरु भी लाद लिया। सब माल बिक गया, बचा रह गया अगरु। सेठ का मूर्ख लड़का घबराया। उसने लोगों को कोयला खरीदते देखा। उसने भी झट फैसला कर लिया कि अगरु को जला कर कोयला बेच दिया जाय। घर लौट कर वह डींग मारने लगा तो लोग उसकी मूर्खता पर हँस पड़े।

बृहत्कथा मंजरी में एक कहानी आती है। रत्न बेचनेवाला धनगुप्त कटाह द्वीप की यात्रा पर निकलता है जहाँ से उसे किसी धनी आदमी की पुत्री देवस्मिता मिल जाती है। उसे लेकर वह घर लौटता है जहाँ उसके पुत्र गुहसेन के साथ देवस्मिता का विवाह हो जाता है। कुछ समय पश्चात गुहसेन भी व्यापार के लिए कटाह द्वीप की यात्रा पर निकलता है। चलते समय वह शिव-पार्वती से दो कमल प्राप्त करने में सफल हो जाता है जिनकी विशेषता यह थी कि सदाचार खो बैठने पर वे एकदम मुरझा जायं। एक कमल उसने देवस्मिता को दिया, एक अपने साथ रख लिया। कटाह द्वीप में उसने चार वणिक पुत्रों को दोनों कमल फूलों की वार्ता कह सुनाई। वे वहाँ से चल पड़ते हैं और देवस्मिता के पास पहुँच कर उसकी परीक्षा लेते हैं। देवस्मिता सदाचार नहीं खोती। पर वह भयभीत अवश्य हो जाती है कि कहीं ये लोग कटाह द्वीप जाकर उसके पति को तंग न करें। इसीलिए वह स्वयं कटाह द्वीप में पहुँचकर राजसभा में सारा रहस्य खोल देती है और अपने पति को पा लेती है।

हरिभद्रसूरि (आठवीं शताब्दी) कृत प्राकृत भाषा के कहानी-संग्रह समराइच्चकहा (समरादित्य कथा) की एक कहानी सामुद्रिक व्यापार का महत्वपूर्ण उल्लेख प्रस्तुत करती है। कहानी का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है। सुसभ्म नगर वासी वैश्रवण नामक सार्थवाह का धन नामक पुत्र था। उस नगर के स्मृद्धिदत्त नामक एक दूसरे सार्थवाह-पुत्र ने देशांतर व्यापार द्वारा बहुत धन कमाया। यह देखकर धन ने भी पिता की आज्ञा से यह घोषणा करा दी—धन नामक सार्थवाह-पुत्र ताम्रलिप्ती नगरी को जायगा, जो चाहे उसके साथ चले। धन की पत्नी धनश्री भी साथ हो ली। चलते समय माँ ने ताकीद की कि वह अपना सुख समाचार भेजता रहे। दो महीने बाद वह ताम्रलिप्ती में जा पहुँचा। पर वहाँ माल बेचने पर उसे विशेष लाभ न हुआ। नया माल खरीद कर वह समुद्र पार जाने की तैयारी करने लगा। जहाज पर माल लाद दिया गया। शुभ दिन विचार कर धन ने वेलातट पर पहले दीन-अनाथों को धन बाँटा, फिर समुद्र की पूजा करने के बाद जहाज की पूजा की, लंगर उठा लिये और पाल खोल कर हवा से भर दिये। धनश्री ने रास्ते में भोजन में जहर मिला कर पति को खिला दिया जिससे धन के शरीर पर महाव्याधि फूट निकली। उसने अपने नन्दक नामक सेवक से कहा—'मेरा रोग दूर न हुआ तो तुम नायक बन कर सब-कुछ सम्भाल लेना और धनश्री को हमारे घर पहुँचा देना।' पर कटाह द्वीप में पहुँच कर धन ने इलाज करा लिया और वह बच गया। पहला माल बेचकर और नया माल भर कर वह स्वदेश की ओर चल पड़ा। कई पड़ाव गुजरने पर धनश्री ने अपने पति को एक दिन पहर रात रहते समुद्र में धक्का दे दिया और कपटपूर्वक 'हा आर्यपुत्र!' कहकर विलाप करने लगी। नन्दक ने जहाज रुकवा कर दुखी मन से स्वामी को ढूँढवाया। कुछ पता न चलने पर जहाज फिर चल पड़ा। उधर सार्थवाह-पुत्र समुद्र में गिरा तो सौभाग्य से किसी भग्न हुए जहाज का एक फलक उसके हाथ लग गया जिसकी मदद से वह तैरने लगा और समुद्र के इस पार पहुँचने में सफल हो गया। इस कहानी का उल्लेख करते हुए वासुदेव-शरण अग्रवाल लिखते हैं—"कहानीकार ने लोक की इस दृढ़ धारणा की चर्चा की है कि बिना समुद्र

पार किए सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। सामुद्रिक व्यापार यद्यपि उस समय जोखिम का काम था, फिर भी अदम्य उत्साह और साहस से भरे हुए श्रेष्ठी इस प्रकार के वाणिज्य में सफलता प्राप्त करना अपने जीवन का ध्येय समझते थे।"[१] आगे चलकर अग्रवाल जी लिखते हैं—"जहाज के लिए चार शब्दों का प्रयोग हुआ है, नौ, यानपात्र, प्रवहण, और वोहित···समुद्र पार करने के लिए 'समुद्र-तरण' और लंघन शब्द आये हैं। व्यापार के लिए 'वाणिज्या' और 'व्यवहार' शब्दों का प्रयोग हुआ है। माल के लिए भाण्ड शब्द है। जो माल स्वदेश से बाहर को जाता था उसके लिए 'परतीरगामी' इस सुन्दर विशेषण का प्रयोग हुआ है···लंगर के लिए 'नंगर' शब्द का प्रयोग हुआ है···यात्राओं में जहाजों के टूटने और डूबने की घटनाएं भी हो जाती थीं, ऐसे यान पात्र को भिन्न और विपिन्न कहा गया है। ऐसे समय यात्री समुद्र में कूद पड़ते थे। कभी-कभी लकड़ी के फलक और तैरते हुए जहाज के टुकड़ों के हाथ लग जाने से उनकी प्राण रक्षा हो जाती थी। कहानियों में इस उपाय का बहुधा प्रयोग किया गया है···गुप्तोत्तर काल से लेकर मध्यकाल तक पूर्वी द्वीप-समूह की यात्रा के लिए ताम्रलिप्ती का बन्दरगाह प्रसिद्ध था, जिसकी पहचान मेदिनीपुर जिले के तामलुक नामक गाँव से की जाती है। आर्यशूर कृत जातकमाला के अन्तर्गत सुपारगजातक में भी एक बहुत साहसपूर्ण समुद्र यात्रा का वर्णन है, जिसमें जहाज डूबते-डूबते बच गया था···जहाजों को चलाने वाली पश्चिमी हवाओं का 'पाश्चात्यवायु' नाम से उल्लेख हुआ है। सम्भवतः यही वे मौसमी हवाएं थीं जिनका परिज्ञान प्रथम शताब्दी ई० के लगभग व्यापारियों को हुआ था। अनुकूल वायु और प्रतिकूल वायु भी पारिभाषिक शब्द थे।"[२]

: ३ :

बचपन में मैंने अपने गाँव की किसी स्त्री से एक गीत सुना था—

वगी वगी वे पुरे दी वा
अग्गे असाँ तुरना नहीं
नहीं नहीं वे
तुरना ताँ हैगा पथेरा
पिच्छे असाँ मुड़ना नहीं
नहीं नहीं वे
वगी पुरे दी वा
पिच्छे असाँ मुड़ना नहीं

—'चली चली रे पूर्व की हवा
हम आगे नहीं चलेंगे
नहीं नहीं रे

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'कटाह द्वीप की समुद्र-यात्रा', विश्वभारती पत्रिका, अप्रैल-जून १९४४, पृ० १२३।

२. वही, पृ० १२३-२४।

चलना तो है बहुत
हम पीछे नहीं मुड़ेंगे
नहीं नहीं रे
चली पूर्व की हवा
हम पीछे नहीं मुड़ेंगे ।'

लोक-कविता की यह आवाज मेरे दिल में बस गई। खुली आजाद हवाओं के लिए मेरा मन सदा आकुल रहा है। हवाएं मुझे उड़ाए लिए फिरती रही हैं। इन हवाओं से मैंने कितना सीखा, अनुभव में प्रतिपल कितनी श्रीवृद्धि हुई, अपलक, आवेग-विह्वल मेरा कवि-मन किस प्रकार किसी वन-कुसुम के अलभ्य सौंदर्य की टोह में भटकता रहा है, इस पर वक्तव्य देने का यहाँ न अवसर है न आग्रह।

हवाओं के गीत मैंने सदा उत्सुकता से सुने हैं। मैंने अपने गाँव की एक मनचली कन्या के मुख से एक लोकगीत सुना था—

आई आँ मैं वा बन के
पंज बारीयाँ पंझत्तर बूहे खोल के

—'आई हूँ मैं हवा बनकर
पाँच वातायन और पछत्तर द्वार खोल कर।'

इस हवा के लिए मैं पागल रहा हूँ। यह वातायन और द्वार खोलने वाली हवा। यह गाती-मचलती हवा। यह मस्त मलंग हवा।.

हवाएं मुझे उड़ाए लिए फिरती रही हैं। न जाने कितने गान, कितनी गाथाएं लिये आती रही हैं ये हवाएं, झूमती-इठलाती, शत-शत भेद खोलती हवाएं।

यह खुली आजाद हवाओं का स्पर्श ही था जो हमारे गाँव के गिद्धा नृत्य में गाये जाने वाले गीतों को एक नई ही गति दे जाता था। एक गीत में जैसे कोई चिर-पथिक कह उठा था—

तेरी चुक्क न मसीत लजाणी
राहीयाँ ने रैण कटणीं

—'तेरी मस्जिद उठा नहीं ले जायंगे
पथिकों ने तो रात गुजारनी है।'

रात-की-रात मस्जिद में रुककर सवेरे आगे बढ़ जाने की भावना ने जैसे मुझे भी छू लिया। मैंने सोचना शुरू किया कि मस्जिद किस चीज का प्रतीक है। प्रेमी थोड़ी रिआयत चाहते समय गीत के इस बोल का खुला उपयोग कर सकता था। पर मैंने देखा कि मस्जिद का वह भाग जिससे सराय का काम लिया जाता है पड़ाव का प्रतीक होता है, जहाँ घर डालकर बैठ जाने का पथिक का कोई इरादा नहीं हो सकता।

हवा का मन्त्र एक ही था—चलते रहो, रुको नहीं। जैसा कि हमारे गाँव की कन्याएँ

अपने गीतों में बार-बार सोचती थीं। इनमें पंछियों की चर्चा तो रहती ही थी। घर की दीवारों और गाँव की गली से जैसे हर लड़की कबूतरी या फाख्ता की तरफ उड़ जाना चाहती हो। जैसे हर लड़की यह सोचने के लिए मजबूर हो कि उसकी वास्तविक जननी तो खुली हवा है और उसे उड़ जाने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है—

१. चन्न सूरज कितनी दूर
वाए दस्स दे नी
२. विचदी मित्रां दे
वा वगए के लंघ जाइए
३. तेरे मगर बन्दूकां वाले
उड्ड जा, कबूतरीए
४. कदी पा वतनां वल्ल फेरा
कूँजे पहाड़ दीए
५. दे दे शौक दा गेड़ा
सवज़ कबूतरीए
६. लच्छी उड्डगी कबूतरी वग के
हरीयाँ कणकाँ चों
७. इल्ह दे आल्हणे आँडा
धी सुनियारे दी
८. तेरे रंग दी कमीज सुआवाँ
बेरी उत्तों उड्ड, तोतिया
९. वेखीं रब्बा चुक्क न लई
साडा घुग्गीयाँ दा जोड़ा
१०. वेखीं रब्बा भन्न न सुट्टीं
साडी हंसा दी जोड़ी
११. लम्म लै हाए कुआरे
माँ दीए हँसनीए
१२. वा नाल नच्च रहीयाँ
चन्न सूरज दीयाँ किरनां
१३. कदे बोल वे चन्द्रिया काँवाँ
कोइलां कूकदीयाँ
१४. वा नूँ न जिन्दरे मार
धीए कबूतरीए
१५. वा वी तेरी भैण
धीए हंसनीएँ
१६. नीवीं पाके तुर

घीए मोरनीए
१७. मुरग़ाई वाँगू तुरदी
तेरे पसन्द न आई वे
१८. मैं खुल्हे मैदानी जावाँ
वा मेरी अम्बड़ी ए
१९. गली पसन्द न लियावें
वा दीए लाडलीए
२०. तूँ घुग्गी मैं कूंज
वा साडी अम्बड़ी ए

१. —'कितनी दूर हैं चाँद-सूरज
बता दे, ओ हवा !
२. मित्रों के बीच से
हवा बनकर गुज़र जाना चाहिए
३. तेरा पीछा कर रहे हैं बन्दूकों वाले
उड़ जा, कबूतरी !
४. कभी तो वतन की ओर फेरा पा
ओ पहाड़ की कूंज[1] !
५. शौक से घूम जा
ओ सब्ज़ कबूतरी !
६. लच्छी कबूतरी बनकर उड़ गई
गेहूँ के हरे खेतों से
७. चील के घोंसले में अण्डा
सुनार की बेटी
८. तेरे रंग की कमीज़ सिलाऊँगी
बेरी से उड़ जा, ओ तोते !
९. देखना, हे भगवान, हमें उठा न लेना
हमारी तो फ़ाख्ताओं की जोड़ी है
१०. देखना, हे भगवान, तोड़ न देना
हमारी हंसों की जोड़ी है
११. अपनी आयु का कुँवारा ढूँढ ले
ओ माँ की हंसिनी !
१२. हवा के साथ नाच रही हैं
चाँद सूरज की किरनें
१३. कभी बोल, ओ अभागे काग !

---

1. सारस जाति का पक्षी ।

कोयलें कूक रही हैं

१४. हवा को ताले न लगा
ओ बेटी कबूतरी !

१५. हवा भी तेरी बहिन है
ओ हंसनी बेटी !

१६. नीची निगाह रखकर चल
ओ बेटी मोरनी !

१७. मुरगाबी की तरह चलती हूँ
अरे मैं तुझे पसन्द न आई

१८. मुझे खुले मैदानों में जाना है
हवा मेरी माँ है

१९. तुझे गली पसन्द नहीं
ओ हवा की लाडली !

२०. तू फ़ाख्ता है, मैं हूँ कूँज
हवा है हमारी माँ ।'

गिद्धा नृत्य के मुक्त वातावरण में गाये जाने वाले इन पंजाबी लोकगीतों पर खुली हवाओं की छाप के साथ-साथ पक्षियों की छाप भी मानव के आनन्दोद्गार की सूचक है। कविहृदय के लिए यह सम्भव ही नहीं कि हवा की कल्पना करते समय पक्षियों की कल्पना से विमुख रहे। कबूतरी को यह राय देते समय कि वह बन्दूक कन्धे पर धरे चले आ रहे शिकारियों से बचने के लिए उड़ जाय, उपकार की भावना उमड़ती; साथ ही कबूतरी गाँव की कन्या का प्रतीक बनकर उभरती। इसी तरह कूँज को सम्बोधित करते समय भी गाँव की लड़की को ही सम्बोधित किया जाता। सुनार की बेटी के लिए चील के घोंसले में अण्डे की उपमा इस बात की परिचायक थी कि सुनार की बेटी बहुत नख़रीली है और आसानी से हाथ नहीं आती। चील का घोंसला वृक्ष की सब से ऊँची टहनी पर होता है और इतनी ऊँचाई से अण्डा निकाल लाना हर किसी के बस का रोग नहीं। कबूतरी, कूँज और चील के अतिरिक्त तोता, फ़ाख्ता, हंस, कोयल, काग, मोरनी, मुरगाबी को भी भुलाया नहीं गया। गाँव की यह युवती जो हवा को माँ मानती है, जिसे गाँव की तंग गली पसन्द नहीं, खुले मैदानों में जाने के लिए कितनी उत्सुक है।

: ४ :

उत्तर प्रदेश के अवधी लोकगीत को भी अनेक स्थलों पर हवाओं का स्पर्श प्राप्त है। एक सोहर गीत में कहा गया है—

बाउ बहइ पुरवइया त पछुवाँ झकोरइ
बहिनी दिहेउ केवड़िया ओंठगाइ सोवउं सुख नीदरि

—'पुरवाई चल रही है, पछुआँ झकोरता है

हे बहन, किवाड़ी बन्द कर दो, सुख की नींद सोऊँगी।'
एक अवधी सोहर की अन्तिम पंक्तियाँ यों हैं—

बहै पुरवइया पवन भर डोलइ हो
लालन खेलिहैं बरोठवा दुनौ जन देखब हो

—'पुरवाई चल रही है, पवन सुन्दरता से डोल रहा है
मेरे लाल बैठक में खेलेंगे, हम दोनों देखेंगे।'
जांत के एक अवधी गीत की उठान देखिए—

बाउ बहै पुरवइया हो सजनी
अंचरा उड़ि उड़ि जाय हो राम

—'हे सजनी, पुरवाई चल रही है,
अंचल उड़ उड़ जाता है हे राम!'
भोजपुरी लोकगीतों में जाँत का एक गीत यों आरम्भ होता है—

बयार बहेला पुरवइया त सींकियो ना डोलेला हो राम
अहो रामा, मोरा परभू गइलें विदेसवा
कइसे जियरा बोधव हो राम

—'पुरवाई चल रही है, सींक भी नहीं डोलती है, हे राम!
अहो राम, मेरे प्रभु विदेश जा रहे हैं
कैसे जी को समझाऊँगी?'
जाँत के एक और भोजपुरी गीत की उठान यों है—

बाव बहेले पुरवइया अलसी निनिया अइली हो
तीनी भइली बइरिनिया पिया फिरि गइले हो

—'पुरवाई चल रही है, आलस्य भरी नींद आ गई
नींद वैरिन हो गई, प्रियतम वापस चले गये।'
एक भोजपुरी सोहर यों आरम्भ होता है—

बाव बहेले पुरवइया
उतरही झकोरेले हो

—'पुरवाई चल रही है,
उत्तर की हवा झकझोर रही है।'

मैथिली लोकगीतों में एक बारहमासा का यह अंश लीजिए—

आयल सावन मेघ बरिसत
घुमड़ि घोर समीर यो
सुमरि यौवन उमड़ि आवत
प्राणपति नहीं साथ यो

—'सावन आया, मेघ बरसते हैं
घोर समीर घुमड़ता है
यह स्मरण करते ही यौवन उमड़ आता है
कि प्राणपति साथ नहीं हैं।'

मराठी लोकगीतों में भी खुली हवाओं का स्पर्श मिलेगा। विशेष रूप से स्त्री-गीतों में जो प्रायः भोर से पहले ही चक्की पीसने के साथ-साथ गाये जाते हैं—

१. *दूरच्या देशींचा शीतल वारा आला*
सुखी मी आईकीला भाईराया
२. *दूरच्या देशींचा सुगन्धी ये तो वात*
असेल सुखांत भाइराया
३. *अरे वाऱ्या वाऱ्या धांवशी लांब लांब*
बहिणीचा निरोप सांग भाईरायाला

१. —'दूर देश की शीतल हवा आई
मैंने सुना सुखी है राजा भैया
२. दूर देश की सुगन्धित हवा आती है
सुखी होंगे राजा भैया
३. अरे हवा के झोंके, तू दौड़ता है दूर-दूर
बहन का सन्देश दे जाकर भैया को!'

हवा के झोंके के साथ चक्की पीसती स्त्रियों का यह मैत्री भाव सराहनीय है, मायके की दिशा से आने वाली हवा जब यह सन्देश लाती है कि भाई सुखी है तो ससुराल से मायके की दिशा में चलने वाली हवा से यह अपेक्षा की ही जा सकती है कि यह बहन का सन्देश भाई तक पहुँचा दे।

एक बंगला पहेली में हवा का चित्र यों अंकित किया गया है—

राजारो छेमू गड़गड़इलेमू
जे धरित पारे तारे हाजार टाका देमू

—'राजा की गोल चीज मैंने लपेट ली
जो कोई उसे पकड़ पाये उसे हजार रुपये दूँगा।'

चलती हवा को कोई पकड़ कर नहीं रख सकता—यही विचार बंगला पहेली में काम करता है।

: ५ :

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—सोते रहने का नाम कलियुग है, आलस्य में सदैव तन्द्रिल रहने का नाम द्वापर है, अनिश्चय में खड़े रहने का नाम त्रेता है और सदैव गतिशील रहने का नाम सतयुग है।

महाराष्ट्र की स्त्री जो ससुराल में बैठी चक्की पीसती है और हवा के झोंके से कहती है कि वह मायके में जाकर भाई को बहन का सन्देश पहुँचाये, अधिक नहीं तो मायके की यात्रा करने की लालसा अवश्य रखती है। यात्रा के नितान्त अभाव में यात्रा की लालसा ही उसके मन में नवीन अनुभव का स्पर्श दे जाती है। महाराष्ट्र की एक लोककथा में भाई-बहन के स्नेह का करुण काव्य निहित है। यह फाखता की कहानी है जिसका मराठी पर्यायवाची है 'कवड़ा'। जब फाखता 'कुर्दुर, कुर्दुर, कुर्दुर' का आलाप करती है, प्रत्येक बहन को फाख्ता की कहानी याद आ जाती है। एक स्थल पर काका कालेलकर ने फाख्ता की कहानी का उल्लेख किया है—

"कवड़ा पहले मनुष्य था। उसके घर में उसकी स्त्री तथा सीता नाम की एक बहिन थी। उसने अपनी बहिन तथा स्त्री को एक-एक सेर धान देकर कहा कि मुझे उसका चिवड़ा बना दो। स्त्री ने धान को कूट कर ज्यों का त्यों पति के सामने रख दिया। स्नेहमयी बहिन ने धान को कूट कर, भूसी को फटक कर और चावलों को अच्छी तरह से बीन कर भाई के लिए चिवड़ा तैयार किया। भाई ने देखा कि स्त्री का चिवड़ा पूरा सेर-भर है और बहिन का तो बहुत घटता है। उसने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि बहिन पक्की स्वार्थी तथा पेटू है। स्त्री तो आखिर स्त्री ठहरी। उसे जितनी हमदर्दी पति से होती है, उतनी किसी दूसरे को थोड़े ही हो सकती है। भाई क्रोध से आगबबूला हो उठा। उसने सेर का बाट उठा कर बहिन के कपाल में दे मारा। बहिन बेचारी वहीं छटपटा कर मर गई। कुछ देर के बाद भाई स्त्री के द्वारा तैयार किया हुआ चिवड़ा खाने बैठा। चिवड़े को मुँह में डाला तो सही, किन्तु भूसी समेत चिवड़ा कैसे खाया जाता? थू-थू करके सब थूक दिया। फिर बहिन के द्वारा तैयार किया गया चिवड़ा खाने लगा। अहा, कैसी उसकी मधुरता! कैसी उसकी मिठास! बहिन के स्नेह की बराबरी करने वाली दुनिया में अन्य कौनसी वस्तु है! भाई ने एक ग्रास खाया था कि पश्चात्ताप से बहिन के शव के पास गिर कर प्राण त्याग दिये। तभी से उसे कवड़ा का जन्म मिला, और आज तक उसकी पश्चात्ताप भरी वाणी जारी है—'उठ सीते, कवड़ा पोर पोर। पोहे गोड़ गोड़।' (सीते, क्षमा कर और उठ। कवड़ा ने नादानी की। सचमुच तेरा ही चिवड़ा मीठा था, मीठा।)" [1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—'यदि तोर डक सुने के उ न आशे तवे एकला चल एकला चल एकला चल रे।' (यदि तुम्हारी आवाज सुन कर कोई नहीं आता तो अकेला चल, अकेला

१. काका कालेलकर, 'उत्तर की दीवारें', पृ० ४६।

चल, अकेला चल रे) । एक और स्थल पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—

तोमार जले बाती तोमार घरे साथी
आमार तरे राती आमार तरे तारा
तोमार आछे डाँगा आमार आछे जल
तोमार बोशे थाका आमार चला चल
—'तुम्हारे यहाँ जलता है दीया, तुम्हारे घर में है साथी
मेरे लिए है रात, मेरे लिए है तारा
तुम्हारे पास है धरती, मेरे पास है जल
तुम्हारे लिए है आराम, मेरे लिए चलना ही चलना ।'

खुली हवाएँ भी यही कहती आई हैं । प्रगति का यही सन्देश मानव चिरकाल से सुनता आया है । हवा में उड़ने वाले पक्षियों को देख कर मानव को चिरकाल से प्रतिस्पर्धा होती रही है । इसीलिए मानव ने पक्षियों को समीप से देखने का यत्न किया । लोकवार्ता पर पक्षियों की छाप मानव की उसी चेतना की परिचायक है जो उसे खुली हवाओं के सम्पर्क से प्राप्त होती है ।

बाँसुरी की कथा : एक काश्मीरी गीत

: १ :
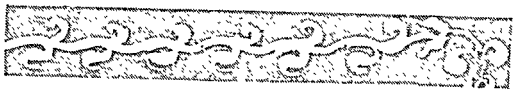
'नाय हन्ज़ कथ्' (बाँसुरी की कथा) शीर्षक काश्मीरी लोकगीत का उल्लेख करते हुए मैंने एक स्थल पर लिखा था—'मुरली का गान काश्मीरी लोक-संस्कृति और कविता की सुन्दर वस्तु है। इसे संसार की उत्कृष्ट लोक-कविता के किसी भी प्रतिनिधि संकलन में स्थान दे सकते हैं।'[1] इस काश्मीरी लोकगीत का मूल्यांकन करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—'यह लोकगीत मूल रूप में किसी भारतीय वीणा की आत्मकथा है, जो भारत से अरब ले जाई गई थी। अरबी भाषा के किसी सहृदय कवि ने इसकी वेदना को सुना और गीत में पिरो कर उसे अलिफ लैला के महान कहानी-संग्रह में सदा के लिए सुरक्षित कर दिया।'[2]

वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह भी स्वीकार किया है कि उन्हें यह गीत आरल स्टाइन के संग्रह से प्राप्त हुआ और यह भी बताया है कि हरिकृष्ण कौल ने उनके अनुरोध पर उसे स्टाइन के संग्रह में प्रकाशित रोमन लिपि से देवनागरी लिपि में लिख कर इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया; अलिफ लैला की कहानी में वीणा के गीत से इस काश्मीरी गीत के भावसाम्य का उल्लेख उन्होंने आरल स्टाइन के संग्रह के साथ प्रकाशित डब्ल्यू० क्रुक की एक टिप्पणी के आधार पर किया है। क्रुक की टिप्पणी इस प्रकार है—

'बाँसुरी के इस व्यक्तित्वारोप और अलिफ लैला की अली नूरुद्दीन और मिरियम[3] नामक कहानी के अत्यन्त काव्यात्मक अंश में जो घनिष्ठ साम्य है, आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। उस कन्या ने उससे वह थैली ले ली और खोल कर उसे झाड़ा तो उसमें से काठ के बत्तीस टुकड़े गिर पड़े। इनकी चूलें आपस में, पुरुष चूल को स्त्री चूल में और स्त्री चूल को पुरुष चूल में, मिला कर उसने जोड़ा तो वह भारतीय कारीगरी वाली चमचमाती वीणा बन गई। उसने अपनी

---

१. धीरे बहो गंगा, पृ० ८४

२. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'बाँसुरी कहती है,' आजकल, दिसम्बर १९५५, पृ० ६

३. वही, पृ० ६। वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—'बर्टन ने इसका 'मिरियम' 'गर्डल नहीं' दिया है जो तामिल मणिमेखला का अनुवाद-सा जान पड़ता है। मिरियम की दूसरा भारत का मरिअम्मा नाम ज्ञात होता है।'

कलाइयों से वस्त्र हटा लिया और वीणा को गोद में रख कर वह उस पर झुक गई, जैसे माँ अपने नन्हें पर झुक जाती है; और उंगलियों से तारों को चपल गति से झनझनाना शुरू किया। वीणा विलाप करने लगी और मुखरित हो उठी, अपनी जन्मभूमि के लिए उसके दिल की टीस जग उठी। उसे उस जल की याद आई जिसे पीकर वह बड़ी हुई, वह धरती याद आई जहाँ उसने जन्म लिया और बड़ी हुई। उसे वह बढ़ई याद आया जिसने उसे तराशा, रंगसाज याद आया जिसने उसे चमकाया, वे व्यापारी याद आये जिन्होंने उसे विदेश को जाने वाले माल में भरा, वह जहाज याद आया जो उसे सागर के पार ले आया। वह रोई-बिलखी, कराह कर आर्तनाद करने लगी। मानो वह कन्या उससे यह सब पूछ रही थी और वह वीणा इन पद्यों को गा-गा कर उत्तर दिये जा रही थी। इन पद्यों के लिए बर्टन कृत अनुवाद का उल्लेख करना होगा, जो भले ही मूल के अनुरूप हो, मूल काव्य के संगीत को बहुत कम मात्रा में प्रस्तुत कर सका होगा।''[१]

आरल स्टाइन के संग्रह के सम्बन्ध में कुछ जानकारी आवश्यक है। इन कहानियों और गीतों के संग्रह कार्य में स्टाइन महोदय को स्व० गोविन्द कौल से अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ था। संग्रह-कार्य सन् १८९६ के जून और जुलाई में किया गया था। सिन्द उपत्यका में स्थित पन्जिल गाँव के निवासी हातिम नामक अनपढ़ किसान को हरमुख पर्वत की चोटी पर मोहन्द मर्ग में अपने खेमे पर बुला कर स्टाइन और गोविन्द कौल ने ये छः कहानियाँ, तीन गीत और तीन कहानियाँ जिनका कुछ अंश पद्य में है, सुन-सुन कर लिखी थीं। स्टाइन ने इन्हें रोमन में लिपिबद्ध किया था और गोविन्द कौल ने देवनागरी लिपि में। गोविन्द कौल वाली प्रतिलिपि का कुछ भाग खो गया था और स्टाइन को चौदह वर्ष बाद सन् १९१० की शरदऋतु में इसका पता चला। गोविन्द कौल इस बीच में इस संसार से चल बसे थे, पर हातिम जीवित था। हातिम को मोहमन्द मर्ग के उसी स्थान पर बुलाया गया और जब स्टाइन के नये सहकारी पण्डित काशीराम ने हातिम के मुख से सुन-सुनकर वह अंश लिपिबद्ध किया जो गोविन्द कौल वाले संग्रह से खो गया था, तो स्टाइन यह देख कर चकित रह गये कि इसका एक-एक शब्द हू-ब हू वैसा ही था जैसा उनके अपने चौदह वर्ष पूर्व तैयार किये संग्रह में था। हातिम की स्मरण शक्ति, उच्चारण की शुद्धता और बुद्धिमता का स्टाइन पर बहुत प्रभाव पड़ा और इस अवसर पर हातिम का एक फोटो भी लिया गया। इसके बाद इसी वर्ष इस संग्रह के प्रकाशन का दायित्व जार्ज ए० ग्रियर्सन को सौंप दिया गया। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२३ में सम्भव हो सका। इसके मुखचित्र पर हातिम का वह फोटो प्रस्तुत किया गया जो सन् १९१० में लिया गया था। आरम्भ में छब्बीस पृष्ठों की प्रस्तावना में स्टाइन ने हातिम और गोविन्द कौल का परिचय प्रस्तुत किया है। फिर साठ पृष्ठों की भूमिका है जिसकी साढ़े तीन पृष्ठ की आरम्भिक टिप्पणी में जार्ज ए० ग्रियर्सन ने इस संग्रह के इतिहास और इसके महत्व पर प्रकाश डाला है, फिर भूमिका का सत्रह पृष्ठ का पहला भाग 'कहानियों की लोकवार्ता के विषय में' शीर्षक से डब्ल्यू० क्रूक ने इस संग्रह की सामग्री और यूरोप और एशिया की लोक-कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए समान अभिप्रायों (मोटिफ्स) पर प्रकाश डाला है। भूमिका का दूसरा भाग साढ़े अड़तीस पृष्ठ का है—'कहानियों में प्रयुक्त भाषा के बारे में' जिसे जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है। भूमिका का

१. Aurel Stein, *Hatim's Tales* : Kashmiri Stories and Songs Edited with a Translation, Linguistic Analysis; Vocabulary, Indexes etc , by George A. Grierson With a Note on Folklore of the Tales by W. Crooke, p xxxi.

तीसरा अंश दो पृष्ठ का है—'हातिम के गीतों के छन्दों के सम्बन्ध में'। भूमिका के पश्चात एक सौ छः पृष्ठों में स्टाइन द्वारा रोमन लिपि में निर्धारित मूल काश्मीरी कहानियों और गीतों के साथ-साथ ग्रियर्सन द्वारा अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। आमने-सामने के पृष्ठों पर मूल काश्मीरी के साथ अनुवाद को मिला कर देखने की सुविधा रखी गई है। फिर पृष्ठ १०७ से २७२ तक गोविन्द कौल द्वारा देवनागरी में लिपिबद्ध मूल काश्मीरी को दोबारा रोमनलिपि में लिख कर प्रत्येक पंक्ति के साथ-साथ गोविन्द कौल के संस्कृत अनुवाद के आधार पर अंग्रेजी अनुवाद दिया गया है।[1] पृ० २७३ से ४२२ तक गोविन्द कौल द्वारा प्रस्तुत की गई मूल काश्मीरी के आधार पर विस्तृत शब्द-कोश दिया गया है जो ग्रियर्सन की महान विद्वत्ता का प्रतीक है। परिशिष्ट १ (पृ० ४२३-४४८) में स्टाइन द्वारा लिपिबद्ध काश्मीरी की शब्द-सूची दी गई है जिसमें प्रत्येक शब्द के साथ-साथ गोविन्द कौल द्वारा लिपिबद्ध काश्मीरी रूप प्रस्तुत किया गया है और इसी प्रकार परिशिष्ट २ (पृ० ४८५-५२६) में दूसरी शब्द-सूची दी गई है जिसमें गोविन्द कौल द्वारा लिपिबद्ध काश्मीरी शब्दों के साथ-साथ स्टाइन द्वारा लिपिबद्ध काश्मीरी के शब्द दिये गये हैं।

इस ग्रन्थ की चर्चा करते हुए एक स्थल पर वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—'केवल दस-बारह कहानियों को आधार बना कर पश्चिमी सम्पादकों ने एक अत्यन्त प्रशंसनीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया है और इस दिशा में हमारे कार्यकर्ताओं का मार्ग-प्रदर्शन किया है। यदि अपने-अपने जनपद की बोली के साथ हमारा प्रेम भी वैसा ही उत्कट हो, जैसा ग्रियर्सन साहब ने काश्मीर के साथ व्यक्त किया है, तो उस बोली के भाग्य ही जग जावें। उन्होंने आगे चल कर अपने अध्ययन की पराकाष्ठा करते हुए काश्मीरी बोली का वृहत कोश चार बड़ी जिल्दों में सम्पादित किया, जो कलकत्ते की रायल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित हुआ है।'[2]

: २ :

स्टाइन और गोविन्द कौल द्वारा अलग-अलग लिपिबद्ध किये गये काश्मीरी लोकगीत 'नय हन्ज कथ्' में कहीं-कहीं साधारण उच्चारण भेद अवश्य है जैसा कि अन्य सामग्री में भी देखा जा सकता है। यह एक आकस्मिक संयोग है कि वासुदेवशरण अग्रवाल को भी काश्मीर के कौल परिवार के व्यक्ति का सहयोग प्राप्त हुआ। नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय के एक कार्यकर्ता हरिकृष्ण कौल के सहयोग द्वारा वे मूल गीत को देवनागरी में पलटाने और हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने में सफल हुए।

श्रीनगर में सन् १६४५ में इस काश्मीरी लोकगीत के अध्ययन में मुझे अपने काश्मीरी मित्र पृथिवीनाथ पुष्प से सहायता मिली जिनके सहयोग से मैं काश्मीरी लोकगीत-संग्रह का संपादन कर रहा था। कुछ काश्मीरी मित्रों के सहयोग से मैंने 'नय हन्ज कथ्' का फिर से अध्ययन किया और अनुवाद प्रस्तुत करते समय यह ध्यान रखा कि मूल का निकटतम सम्पर्क और रस उपलब्ध हो सके।

---

१. यदि यहां गोविन्द कौल द्वारा लिपिबद्ध मूल काश्मीरी को पुस्तक के इस खण्ड में देवनागरी में ही रहने दिया गया होता तो पुस्तक का वैज्ञानिक महत्व अधिक होता।

२. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'पृथिवी-पुत्र', पृ० ८२।

नय हन्ज़ कथ्
(मूल काश्मीरी)

१. चुनियम् दोद् तस छु पानस ती ननान्
नय हुन्द दोद नय छि पानय् ती वनान्
२. नय छि दपान वार-साहेब छु कुनुय्
दय् त चखि निश् पानस छु विनुय
३. नय् छि दपान् वार-साहेब मुनजात
पानसय् कुन् छु मुश्ताक दुह् त राथ्
४. हमद् गछि तस् खुदायस् कुनू पर नू
पद कुरुन युथ महम्मद मिजमान्
५. वार साहिबन् सूति दितिन् समान्
चोर यार छिस् सूति सूती शुबान्
६. नूर तम्सुन्दि पद कुरुन् आदम्
आदमस् सूति पेद कुरुन् इदम्
७. नय छि दपान् लुदुन आदम् वेनवा
ओस् मशयथ् लरितल् द्रायस् हवाह
८. नय छ दपान् क्याह जबर ओस् सुय् साथ
यमि सातय् पोद करुन् जुरयाथ्
९. नय् छ दपान् हाल् म्योनुय् बूज्यतव
दादय तदय् छिव त साथा रुज्यतव्
१०. नय छ दपान् पथ् वनन आसस् पिनहांन्
शाल-बरगव् सूत्यी आसस् शुभान्
११. नय छ दपान् थोद म्य ओसुम् बालपान
स्वन्-कननंय आयि दूरन् छस् दिवान्
१२. गयि म्य गुमरही त तमिकुय गोम बदल
प्योम् म्य गुटिला लान्यचूर वातिथ् अजल
१३. नय छ दपान सख़त म्य गोम् सुय् कसूर
नज़रि-तमि-सन्ज़ि-सूती सपदुम् टुकसूर
१४. नय छ दपान् चखि होत् मख् छुम् दिवान्
फल ब्योंन् ब्योंन् छल माज़स् छुम् तुलान्
१५. मद् म्य ओसुम् हद् पानस् करान्
वाल् पानस् वालनय कौछ छुम् करान्
१६. गयि जुदाह स्वय् जुदाई छय् वनान्
आस् पदान् अल निदाह आसुय् करान्
१७. तति चालिथ् वति चति तम् छुम् दिवान्
चालवुनुय त्तरक छानस् छुम् कनान्

१८. नय छ दपान् लरि फिर्य फिर्य छुम् वुछान्
दूरि रूज्य् रूज़्य् तोरि दव् सक्त् छुम् दिवान्

१९. नय छ दपान् लितरि सूत्यी यलि गाजनस
अथुर प्ययम् यलिचरकस खजनस्

२०. दलील :
मलि च्रकस् खच् अमिस् तरक छानस् निश् अमिस् प्यवान् पनुन्य हमनिशीन् याद् । यिमनुय् कुन् छ वनान् कॅछा । त् क्याह् वनि ?
नय् छ दपान्, हमनिशीन् म्यान्य् रूदस च कति
वन्य व् दिमहाय तूर्य मा रूदस अडवति

२१. हमनिशीनन् सीर् पननुय भावह
सीन् मुंचरिथ् दोद पननुय् हावह

२२. नय छः दपान् 'क्याह वन्योम् ? कूत् छस् रिवान्
दादि पननि नाल फर्याद छस दिवान्

२३. नय छः दपान् नाल दिमह मारकन्
वनन रोस्त् नो काँह ति रोजान् मरद ज़न्

२४. दलील :
दपान् वुस्ताद् क्याह् वनिहे यिमन् हमनिशीनन् ! यिमन् वनिहे यी—
नरम् कर्य अरम् पानस् छुम् करान्
यार वुछतम् माज़् कोताह् छुम् हरान्

२५. वदय व् ज़दय पानस् तार्यनम्
खाम्-पाँसन् ज़ीठह अथ् कूत्य दार्यनम्

२६. दलील :
दपान वुस्ताद्, युन्य यलि खाम् पांसन् आयि कनन, युन्य छुस प्यावान् पनुन् नयिस्तान् याद् । अथ नयिस्तानस्-कुन् छ वनान् कॅछाह् क्याह् वनि !
नय् छ दपान् नयिस्तानुक् छुम् तमाह्
गरज़ पननि छांडिम् अरज़ो-समा

२७. नय् छ दपान् नयिस्तान् म्योन् छु जान्
जानि क्याह् तथ् माने वूज़िथ् गारज़ान्

२८. नय् छ दपान् नयिस्तान् म्योन् क्याह ज़बर
जानि क्याह् तथ् माने वूज़िथ बेख़बर

२९. नय् छ दपान् नयिस्तानच् यस् छ जान्
ज़ानि सुय युस् आसि वोतसुत् लामकान्

३०. नय् छ दपान् क्याह छ वनिमच मसनवी
जानि सुय यस् आसि प्येमच अशक छर

३१. नय् छ दपान् मधुर मस् कत्याह् चयान्
सदुरवलय् नय सुवहान् छुय् वनान्

बाँसुरी की कथा
(हिन्दी रूपान्तर)

१. अन्दर का दर्द आदमी को खुद ही मालूम होता है
बाँसुरी का दर्द बाँसुरी खुद कहती है
२. बाँसुरी कहती है खुदा एक है
खुदा अपने को गुस्से से अलग रखता है
३. बाँसुरी कहती है खुदा पाक है
वह अपनी तरफ मुश्ताक है दिन रात
४. उस खुदा की हमद पढ़नी चाहिए
जिसने मुहम्मद जैसा मेजबान पैदा किया
५. खुदा ने उसके साथ सामान दिये
चार दोस्त उसके साथ शोभायमान हैं
६. उसके नूर से आदम पैदा हुआ
आदम के साथ उसने यह दुनिया पैदा की
७. बाँसुरी कहती है आदम को उसने नाम के बिना भेजा
उसकी मनशा थी तो उसके जिस्म से हव्वा निकल आई
८. बाँसुरी कहती है वह वक्त कितना अच्छा था
जब उसने दुनिया-जहान को पैदा किया
९. बाँसुरी कहती है मेरा हाल सुनो
तुम्हें भी दर्द है तो मेरे साथ रहो
१०. बाँसुरी कहती है मैं कहीं जंगल के पीछे छिपी हुई थी
मैं शाखों और पत्तों से शोभायमान थी
११. बाँसुरी कहती है मुझे बचपन का जमाना याद था
जब मैं कानों के लिए सोने की बालियाँ बना के देती थी
१२. मैं गुमराह हुई तो उसी का यह बदला मिला.
लकड़हारा मेरे सामने मौत के रूप में आया
१३. बाँसुरी कहती है वही रोग मुझे सख्त हुआ
उसकी एक ही नजर से मैं भस्म हो गई
१४. बाँसुरी कहती है वह बहुत गुस्से में मुझ पर कुल्हाड़ा चलाता है
वह मेरे गोश्त को अलग-अलग टुकड़ों में काटता है
१५. मुझे बहुत खुमार था, मैं खुद को बहुत पसन्द करती थी
खुमार मुझ से उतरा ही न था कि बढ़ई मेरा अपमान करता है
१६. मैं जुदा हो गई, उसी जुदाई की कहानी सुनाती हूँ
रोते-रोते आ गई, वह विलाप कर रही थी
१७. वहाँ से उतार कर वह मुझे रास्ते-रास्ते में देता है
उतारते ही वह मुझे बढ़ई को देता है

१८. बाँसुरी कहती है वह पलट-पलट कर मुझे देखता है
दूर रह-रह कर वह बसूले से मुझ पर वार करता है

१९. बाँसुरी कहती है जब उस ने मुझे आरी से चीर लिया
खराद पर चढ़ाया तो जैसे मुझे कीड़ा लग गया

२०. दलील :
जब वह बढ़ई के यहां खराद पर चढ़ गई, उसे अपने हमनशीं याद आते हैं।
उन्हें पुकार कर वह कहती है। तो वह क्या कहती है ?
बाँसुरी कहती है ऐ मेरे हमनशीं, तुम कहां रहे ?
मैं तुम्हारी राह देखती रही, तुम रास्ते में ही तो नहीं रह गये ?

२१. ऐ हमनशीं, मैं तुम्हें अपना राज बताती हूँ
सीना चीर कर मैं अपना दर्द दिखाऊँगी

२२. बाँसुरी कहती है मुझे क्या हो गया ? मैं कितना रोती हूँ
दर्द के मारे नाला-ओ-फरियाद करती हूँ

२३. बाँसुरी कहती है मैं हर मुकाम पर चिल्लाऊँगी
कोई भी मर्द या औरत अपने जंगल के बिना नहीं रह सकती

२४. दलील :
उस्ताद कहता है वह अपने हमनशीनों से क्या कहती है ? वह उनसे कहती है
वह मुझे नरम करके बरमा से सूराख करता है
गौर से देखो, मेरा गोश्त कितना गिर रहा है

२५. मैं रोऊँगी, उसने मेरे जिस्म में सूराख कर दिये
धेले-धेले के लिए उसने हाथ पसारे

२६. दलील :
उस्ताद कहता है जब वह धेले-धेले में बेची गई, उसे अपना स्थान याद आता है। उस बांसवारी की तरफ कुछ कहती है। क्या कहेगी ?
बाँसुरी कहती है मुझे बांसवारी की तमन्ना है
अपनी ग़र्ज़ के लिए मैंने ज़मीन-आस्मान छान मारे

२७. बाँसुरी कहती है ओ मेरी बांसवारी, तू कितनी अच्छी है
कोई अजनबी इसका मतलब क्या समझेगा ?

२८. बाँसुरी कहती है मेरी बांसवारी कितनी सुन्दर है
कोई बेखबर उसका मतलब क्या समझेगा ?

२९. बाँसुरी कहती है बाँसवारी की जिसे खबर हो
उसी को खबर होगी जो लामुकाम (खुदा) को पहुँच गया

३०. बाँसुरी कहती है इस मसनवी में क्या कहा गया है ?
वही समझ सकता है जिस पर इश्क़ की बूँद टपकी हो

३१. बाँसुरी कहती है यह मीठी शराब जितने ही लोग पीते हैं
संदुरबल में सुबहान ही बाँसुरी की कहानी सुनाता है।

जैसा कि अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है, सुबहान नामक कोई जन कवि इस गीत का रचयिता है। पर कवि का नाम मालूम होने पर भी इसे लोकगीत ही कहना होगा, क्योंकि सुबहान के बारे में काश्मीर के उच्च साहित्य में कोई जिक्र तक नहीं और लोक परम्परा में ही उसकी रचना आज तक सुरक्षित रही है।

इस गीत पर सूफी प्रभाव स्पष्ट है। जंगल से बिछुड़ कर बाँसुरी रोती है, वैसे ही जैसे सूफी अपने भगवान से मिलने के लिए आकुल रहता है।

: ३ :

अलिफ़ लैला के बर्टन कृत अनुवाद में 'अली नुरुद्दीन और मिरियम' शीर्षक कहानी में वीणा का जो गीत प्रस्तुत किया गया है उसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—

अभी कुछ दिन पहले मैं एक पेड़ थी—बुलबुल का घर,
जिसके लिए झुका देती थी मैं अपना घास-सा हरियाला सिर
बुलबुल मेरे लिए रोती थी और मैं समझती थी उसका रोना
उस रोने में ही सब लोगो ने पढ़ लिया मेरा राज
लकड़हारे ने कुल्हाड़े की चोटों से मुझे काट गिराया
और (जैसा कि आप देख रहे हैं) मुझे एक पतली वीणा में बदल डाला
पर जब उंगलियाँ मेरे तारों को छेड़ती हैं, वे बताती हैं
कैसे इन्सान ने मेरे सब्र के बावजूद मुझे मार डाला
इसलिए जब नमाज के साथी मेरा विलाप सुनते हैं
मोम की तरह अलग हुए—जैसे बहकाये हुये शराबी,—
और अल्ला हर किसी के दिल को मेरे लिए नरम बना देता है
और ऊँचे से ऊँचे मुकाम पर है मेरी पहुँच
खुशी से मुझे कमर से थामती हैं—
नाजनीनें और हूरों-सी दासियाँ,
हिरनी की-सी आँखों वाली!
या अल्लाह! आशिक की खुशी में खलल न पड़े,
बेरहम आशिक़ को माफ न करना जो बेदर्दी से भाग गया हो।[1]

मसनवी मौलाना रूम का आरम्भ भी बाँसुरी की कथा से हुआ है, जिसकी मूल प्रेरणा अलिफ़ लैला के इस गीत और काश्मीर के 'नय हन्ज कथा' (बाँसुरी की कथा) से बहुत भाव-साम्य रखती है। मौलाना रूम कहते हैं—

बिशनौ अज़ नय चूं हिकायत मैं कुनद
वज़ जुदाई हा शिकायत में कुनद
कज़ नेस्तां ता मरा बिब्रीदा अन्द
अज़ नफ़ीरम मर्दोज़न नालीदा अन्द

---

१. बर्टन, अलिफ़ लैला, भाग ८, पृष्ठ २८१।

सीना ख़ाहम शरा शरा अज़ फ़िराक़
ता बिगोयम शराय दर्दे इश्तियाक़
हर कसे को दूर मानद अज़ अस्ले ख़ेश
बाज़ जोयद रोज़गारे वस्ले ख़ेश
मन बहरे जमीयते नालाँ शुदम
जुफ़्ते खुशहालाँ व बदहालाँ शुदम
हर कसे अज़ ज़न्ने ख़ुद शुद यारे मन
अज़ दरूने मन न जुस्त असरारे मन
सरे मन अज़ नालाय मन दूर नेस्त
लेक चशमो गोश रा आँ नूर नेस्त
आतिशे इश्कस्त कन्दर नय फ़िताद
जोशशे इश्कस्त कन्दर नय फ़िताद
हमचे नय ज़हरे ओ तरयाक़े के दीद
हमचे नय दमसाजो मुश्ताक़े के दीद
नय हदीसे राह पुरख़ूं मे कुनद
क़िस्साहाय इश्के मजनूं मे कुनद

—'तू बाँसुरी से सुन कि हिकायत करती है
और जुदाई की शिकायत करती है
जब से उन्होंने मुझे नेस्तों[1] से काटा है
उस वक्त से मेरी आवाज पर रोते आये हैं मर्द और औरतें
मैं चाहती हूँ फ़िराक से टुकड़ा-टुकड़ा हो जाय मेरा सीना
ताकि मैं इश्तियाक के दर्द की शरह बता सकूं
हर आदमी जो अपने असल से दूर हो जाता है
वह फिर अपने वसल के दिनों की तलाश में फिरता है
मैंने उस मिलाप के लिए बहुत सरगर्दानी की
अच्छे-बुरे लोगों की सोहबत में घूमती रही
हर वह आदमी जो अपने आप मेरा दोस्त बन गया
उसने भी मेरा भेद न पाया
मेरा भेद मेरे रोने से दूर नहीं है
लेकिन किसी की आँख और मकान में वह नूर (पहचान) नहीं है
यह इश्क की आग है जो बाँसुरी के अन्दर रखी गई है
यह इश्क का जोश है जो शराब के अन्दर पैदा किया गया है

---

१. सरकंडों का जंगल ।

बाँसुरी की तरह का जहर और तरयाक[1] किसने देखा है ?
बाँसुरी की तरह का दोस्त और महबूब किसने पाया है ?
बाँसुरी खून से भरे हुए (आशिकों के) रास्ते की हिकायत बयान करती है
मजनूं के इश्क़ के क़िस्से बयान करती है।'

इस तुलनात्मक अध्ययन के प्रकाश में काश्मीर के 'नय हन्ज कथ्' शीर्षक लोकगीत का महत्व हमारे लिए और भी बढ़ जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस लोकगीत पर सूफ़ी प्रभाव स्पष्ट है, पर सूफ़ी प्रभाव से विलग करके भी हम इस गीत का महत्व समझ सकते हैं।

१. ज़हर का इलाज।

तीस मराठी ओवियां

महाराष्ट्र में ओवी घर-घर गाई जाती है। चक्की पर आटा, बेसन या दाल पीसते समय प्रायः दो स्त्रियाँ आमने सामने बैठ कर, चक्की के हत्थे को एक-साथ पकड़ कर, पीसने के कार्य में जुटती हैं। अक्सर भोर होने से बहुत पहले ही यह कार्य करना होता है। घर की कोई स्त्री साथ देने वाली न हो तो पड़ोसिनें एक-दूसरी का हाथ बटाती हैं। इसीलिए बहुत सी ओवियों में पड़ोसिन को सम्बोधित किया गया है। भोर समय से पहले का शान्त वातावरण भी ओवियों में कहीं-कहीं बड़ी कलापूर्ण शैली में अंकित किया गया है। नैहर में बहन को भाई की प्रतीक्षा रहती है, बहन का हृदय भाई की बाट जोहते उमड़ा पड़ता है। कहीं-कहीं कोई लोक-विश्वास भी ओवी में गूँथ दिया जाता है। बड़ी बहन को कहीं कुंकुम की पुड़िया पड़ी मिल जाय तो छोटी बहन सोचती है कि यह अच्छा शकुन है, बहन का पति आयुष्मान होगा।

ओवी गाते समय पिसनहारियाँ मुक्त भावना के मन्त्र प्रस्तुत करती हैं। कोई इन्हें काव्य के प्रयोग ही समझे, ऐसा उनका आग्रह नहीं रहता। किसी-किसी ओवी को किसी मंगल समाचार का स्पर्श प्राप्त हो जाता है। पुरानी ओवियों के भण्डार में नई ओवियों का समावेश होता रहता है।

किसी-किसी ओवी में गाँव की बदलती हुई अवस्था की ओर भी संकेत करना आवश्यक समझा जाता है। 'गाँव बिघडल' (गाँव बिगड़ गया)—बहुत-सी ओवियों की यही उठान है। गाँव की मुखमुद्रा तो सुन्दर रहनी चाहिये, प्रत्येक व्यक्ति का आचरण ऐसा हो कि समूचा गाँव उस पर हर्ष की फुहार-सी छोड़ता नजर आये—इसी भावना से प्रेरित हो कर पिसनहारियाँ कुछ कहती हैं, भले ही ओवी के कैन्वेस पर एक आध स्पर्श देने से अधिक की गुंजाइश ही न हो।

स्वर्गीय साने गुरुजी का नाम मराठी लोक-साहित्य के प्रांगण में चिर-स्मरणीय रहेगा। 'स्त्री-जीवन' (२ भाग)[1] में २५६२ ओवियों का संग्रह प्रस्तुत करते हुए उन्होंने नूतन साहित्य-सृजन के प्रवेश-द्वार पर अर्घ्य चढ़ाने का पुण्य कार्य किया है, जिसके लिए मराठी साहित्य-जगत ही नहीं समूची भारतीय साहित्य-परम्परा उनकी ऋणी रहेगी। ओवी संग्रह साने गुरुजी की साधना का प्रतीक है।

---

१. प्रकाश मण्डल, ४३६, सदाशिव, पुणे २, द्वारा सन् १९४०-४१ में प्रकाशित।

साने गुरुजी के कथनानुसार महाराष्ट्र मे सातवीं-आठवीं शताब्दियों में चक्की पीसते समय गाई जाने वाली ओवी का उल्लेख मिलता है और जब बारहवीं शताब्दी में महामाधवी मत के कवियों ने सर्वप्रथम साहित्यिक ओवी का प्रयोग प्रस्तुत करना आरम्भ किया, उन्होंने मराठी लोक-साहित्य के प्रति और विशेष रूप से पिसनहारियों की ओवी के प्रति आभार माना था।

पिसनहारियाँ तो आज भी अपनी ओवियाँ गाते समय लोक-मंजूषा में अपने-अपने व्यक्तित्व को सजा कर रखने की कला में जुटी नजर आयेंगी, सरगम के सप्तक पर ओवी के बोल उछालते हुए वे उसमें अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा मिला कर गाती हैं। ओवी जीवित व्यक्तित्व का गान है। कहीं प्रकृति की शोभा का तनिक-सा वर्णन ही ओवी के लिए यथेष्ट समझ लिया जाता है तो कहीं कोई सुख-समाचार ही ओवी की मधु लक्ष्मी का चौक पूरता है। एक प्रकार का आत्म-चैतन्य ओवी का आधार बनता है। जीवन का अभिनव परिचय ही ओवी-गायिकाओं को प्रिय रहा है। इसीलिए उन्होंने अंग्रेजी काल के प्रथम स्पर्श को ओवी में टाँकने की बात को भी भुलाया नहीं।

इस संक्षिप्त परिचय के साथ ओवियों से साक्षात्कार कीजिए—

१. कुंकवाचा पुडा अक्काबाईला सापडाला
आयुष्याचा लाभ झाला तिच्या कंथा

२. पूर ओसरले नदीनाले शांत झाले
अजुन कां न भाई आले बहिणीसाठीं

३. शेजी मला पुसे येऊन घडी घडी
कधीं माहेराची गाडी येणारसे

४. नको धन नको मुद्रा नको मोतियाचे हार
देई प्रेमाश्रुची धार भाईराया

५. पान फूल पुरे पुरे अक्षता सुपारी
नको शेला जरतारी भाईराया

६. पहाटेच्या प्रहररात्री कोण राणी ओंव्या गाते
पुत्राला नीजविते उपाताई

७. गांव बिघडला गांवां च गेली शोभा
मोठे मोठे लोक लाभा गुन्तताती

८. अत्तरदानी गुलाबदानी पाचूपेट्या पिंगारदाणी
आहे हौशी तुझी राणी गोपूबाला

९. तिन्ही सांजा झाल्या उंबर्‍याला रक्षा
जोगीणीला भिक्षा घालू नये

१०. हल्लींच्या मुलींना काम नको डोलयांपुढें
लक्ष लिहिण्याकडे उपाताईचें

११. कुंकू मी वाटीन भरी कचेला
धाडीन आजोला मामीबाइला

१२. झोंपाल्या रे दादा   आम्हांला तुझा लळा
चैन पडेना बाळाला   तुझयावीण

१३. तारूँ लागला बन्दरा   भाईराया ना ग साँगा
वेलदोडे लवंगा   स्वस्त झाल्या

१४. अंगाई चे घरीं   मंगाई राखण
संगवाई चे दुकान   रस्तया वरी

१५. सरलें दळण   राहीलें सुपाकोनी
विट्ठल रखुमाई   गायीली रत्नें दोन्हीं

१६. सरलें दळण   घालूँ शेघटा चा घास
असाच हात लावी   शेजी तुझी मला आस

१७. सरलें दळण   सरलें म्हणूं नये
सासर माहेर   नांदते माझें सये

१८. जातें करुंदाचें   खुन्टा आंवलीचा
गळा माझया सांवलीचा   आहे गोड

१९. जातें कुरुंदाचें   खुन्टा पापणाचा
घर हात कांकणाचा   उपाताईचा

२०. जातियाचें तोंड   जशी खोबऱ्याची वाटी
याचा कारागीर   नांदतो घालेघाटी

२१. सरलें दळण   सरत्या पुरत्या गंगा
येथून नमस्कार   काशीच्या ज्योतिर्लिंगा

२२. दुरुन दिसते   तातोबाची माडी लाल
सीताबाई बाळन्तीण   शालीचे दिले पाल

२३. माझया घरीं ग पाहुणा   पाहुणा नव्हे बाई
नणंदा बन्सबाई   पति तुमचे

२४. बाळपट्टी खण   पट्टीला चवल
शिपी करतो नवल   घोसीयेचें

२५. झोंपाळयावर बसूँ   म्हणूं [illegible]
गंमत सरोखरी   [illegible]

२६. झोपाळया रे दादा   [illegible]
आम्हालां आज्ञापीशी   [illegible]

२७. बोरी बन्दरावर   [illegible] पहा
आगीन गाडी आली पहा   [illegible]

२८. बोरी बन्दरावर   [illegible]
आगीन गाडीचें [illegible]   [illegible]

२९. आगीनगाडी [illegible]   [illegible]
वेलाविण [illegible]   [illegible]

३०. अत्तरदानी गुलाबदानी कांचेचा हिरवा पेला
पाख्यांत बंगला केला इमनानी

तीस मराठी ओवियां
(हिन्दी रूपान्तर)

१. कुंकुम की पुड़िया बड़ी बहन को कहीं मिल गई
आयु का लाभ हुआ उसके पति के लिए
२. पूर उतर गये, नदी नाले शान्त हो गये
अब तक भाई क्यों नहीं आया बहन के लिए
३. पड़ोसिन मुझ से पूछती है आकर घड़ी घड़ी
नैहर से बैलगाड़ी कब आने वाली है ?
४. धन नहीं चाहिए, मोहरें नहीं चाहिए, न मोतियों के हार
प्रेमाश्रुओं की धार ही दे दो, भाई राजा !
५. पान फूल काफी हैं, काफी हैं चावल के दाने और सुपारी
नहीं चाहिए जरदोजी के काम वाला शेला वस्त्र, भाई राजा !
६. पौ फटने से एक पहर रात रहते कौन रानी ओवी गा रही है ?
पुत्र को सुला रही है उषा दीदी
७. गाँव बिगड़ गया, गाँव की शोभा चली गई
बड़े-बड़े लोग लोभ में गुँथ जाते हैं
८. अतरदानी है, गुलाबदानी है, पाचूपेटी (गले का गहना) है, पीकदानी है
शौकीन है तेरी रानी, श्रो गोपूवाला !
९. साँझ हो गई, दहलीज की रक्षा करो
जोगिनी को भिक्षा नहीं देनी चाहिए[1]
१०. आजकल की कन्याओं को काम नहीं चाहिए आँखों के सामने
उषा दीदी का ध्यान लिखने की ओर रहता है
११. मैं कुंकुम बाँटूँगी कचेला[2] भर-भर कर
भेजूँगी नानिहाल में मामी बाई के लिए
१२. हे पालना माई, हमें तेरा लाड़ है
बालक को चैन नहीं पड़ती तेरे बिना
१३. जहाज बन्दरगाह पर आन लगा, राजा भैया से कहो—
इलायची और लवंग सस्ते हो गये
१४. अंगाई के घर पर मंगाई रखवाली करती है[3]
सस्तेपन की दुकान है रास्ते पर

१. सांझ समय जोगिनी को भिक्षा देने से बालकों को कुदृष्टि लगने का भय रहता है ।
२. कचेला में कई खाने रहते हैं, ज्यादा हों तो हर खाने का ढकना अलग खुलता है ।
३. अंगाई का अर्थ है लोरी, मगाई निरर्थक शब्द है । अंगाई मंगाई का एक साथ प्रयोग होता है ।

१५. पीसना समाप्त हुआ, छाज के कोने में रह गया
बिठ्ठल और रखुमाई—इन दोनों रत्नों का मैंने गान किया।

१६. पीसना समाप्त हुआ, डालें आखिरी मुट्ठी
इसी तरह हाथ लगाती जा, पड़ोसिन, मुझे तेरी ही आस है

१७. पीसना समाप्त हुआ, समाप्त हुआ नहीं कहना चाहिए
मेरे ससुराल और नैहर में भरपूर परिवार है, हे सखी!

१८. चक्की कुरुन्द पत्थर की है, मुट्ठा है आंवले का
मेरी सांवली सहेली का गला मीठा है

१९. चक्की कुरुन्द पत्थर की है, मुट्ठा है पत्थर का
ऊपर चूड़ियों वाला हाथ है उषा दीदी का

२०. नारियल की बाटी-सा है चक्की का मुँह
इसका कारीगर रहता है कालाघाट में

२१. पीसना समाप्त हुआ, अन्तिम दाने हैं गंगा की अन्तिम धाराएँ
यहीं से तुझे नमस्कार करती हूँ, काशी के ज्योतिर्लिंग!

२२. दूर से नजर आती है तातोबा की ऊपर की लाल मंजिल
सीताबाई पढ़ती है, शाल के लाल परदे लगाये गये हैं

२३. मेरे घर में आया हुआ अतिथि, वह अतिथि नहीं है, बाई!
हे ननद बाई, वह है तुम्हारा पति

२४. बालंपट्टी वस्त्र का टुकड़ा, चवन्नी की एक पट्टी
दरजी वाह-वाह कर रहा है चोली पर

२५. पालना में बैठ कर ओवियां गाय
सचमुच कितना मजा आता है

२६. हे पालना भाई, तू हिचकोले खाता है
हमें तू आज्ञा देता है उठ जाने के लिए

२७. बोरी बन्दर पर मैडम पीती है चाय
देखो आगीनगाड़ी आ गई रेल की पटरियों पर

२८. बोरी बन्दर पर मैडम खाती है बिस्कुट
आगीनगाड़ी का मुँह घूम गया रेल की पटरियों पर

२९. आगीनगाड़ी विगिनगाड़ी, गाड़ी के डिब्बे ही डिब्बे हैं
बैलों के बिना चल निकलती है रेल की पटरियों पर

३०. अतरदानी, गुलाबदानी, कांच का हरा प्याला
पानी में बंगला बनाया अंग्रेजों ने।

पन्द्रहवीं ओवी में बिठ्ठल और रखुमाई का उल्लेख किया गया है। बिठ्ठल का मन्दिर पंढरपुर में है, बिठ्ठल की पत्नी रखुमाई पंढरपुर की देवी है।

प्रकृति के साथ सख्यभाव, लोक-जीवन के समग्र दर्शन के साथ आत्मदर्शन और इस प्रकार वस्तु-स्थिति के निकटतम सम्पर्क में सत्य का दर्शन, यही तो ओवी की कला है।

परिशिष्ट

प्रिशिष्ट १ में एक विचारमाला प्रस्तुत की गई है। लोकवार्ता परिषद् की स्थापना का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। विशेषज्ञ और कार्यकर्त्ता एक मंच पर एकत्रित होकर लोक-साहित्य और लोक-कला के वैज्ञानिक अध्ययन और संरक्षण में योग दे सकते हैं। परिशिष्ट २ में चौबीस पत्र प्रस्तुत किये गये हैं। इन पत्रों का साहित्यिक मूल्य है, क्योंकि ये मात्र व्यक्तिगत और सामयिक ही नहीं थे जब ये लिखे गये थे। परिशिष्ट ३ में 'मूल्यांकन' के रूप में फिर एक विचारमाला प्रस्तुत की गई है। परिशिष्ट ४ में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा किये गये गत एक शताब्दी के लोक-साहित्य सम्बन्धी कार्य पर एक टिप्पणी है, और परिशिष्ट ५ में भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा किये जा रहे लोक-साहित्य सम्बन्धी कार्य का उल्लेख है।

परिशिष्ट १

लोक-वार्त्ता परिषद की स्थापना आवश्यक है

बड़े आयोजन की जरूरत
रामनरेश त्रिपाठी

···सन् १६२६-२७-२८ में कुल मिलाकर लगभग ६-१० हजार मील की यात्रा मैंने पैदल और रेल से की। और गीत-संग्रह में सब प्रकार के खर्च मिलाकर कुल ३८-३६ सौ रुपये खर्च किये। समय, धन और स्वास्थ्य तीनों को अपनी शक्ति से अधिक खर्च करके मैंने पाया क्या? १०-१२ हजार गीत, और ग्राम्य-जीवन के अनमोल अनुभव।

यद्यपि मैंने कई हजार गीत जमा किये हैं, पर उन्हें मैं समुद्र में एक बूँद से अधिक नहीं समझता। एक-एक जिले के गीतों के संग्रह में बीसों वर्ष चाहिए। मेरे पास इतना समय है भी नहीं; और हो भी, तो इसी एक काम के पीछे मैं इतना समय दे भी नहीं सकता। गत चार वर्षों

में मैंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में घूम-फिर कर सब प्रकार के थोड़े-बहुत गीत जमा कर लिये हैं। पर संग्रह होना चाहिए एक सिलसिले से। और इस काम के लिये प्रत्येक जिले में ग्रामगीत समिति बननी चाहिए, जिसमें सब श्रेणी और सब समाज के लोग सम्मिलित किये जायँ। पर समिति बना कर बाकायदा काम करने के लिये बहुत बड़े आयोजन की जरूरत है। और आयोजन के पहले सर्वसाधारण को ग्रामगीतों की उपयोगिता बताने की आवश्यकता है...'[1]

महायज्ञ की पूर्ति के लिए

कृष्णानन्द गुप्त

ग्रामगीतों के संग्रह के विषय में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी बड़ा काम कर रहे हैं। वे भारत के समस्त प्रान्तों के ग्रामगीतों का संग्रह करने में लगे हुए हैं। परन्तु इतना बड़ा काम किसी एक आदमी के बूते का नहीं है। महायज्ञ की पूर्ति के लिए तो सबको ही अपनी-अपनी आहुति देनी होती है। तभी सफलता प्राप्त होती है। पिछले पन्द्रह वर्षों के घोर परिश्रम के उपरान्त भी सत्यार्थी जी ने जो गीत-संग्रह किया है, वह अभी अपूर्ण ही है। इस उद्देश्य के लिए तो प्रत्येक प्रान्त में ही ग्राम-साहित्य समिति कायम होनी चाहिए, जिनका उद्देश्य ग्राम-साहित्य सम्बन्धी विविध सामग्री का संग्रह करना हो और जो किसी केन्द्रीय संस्था से सम्बद्ध हों। कम-से-कम बुन्देलखण्ड के ग्राम-साहित्य का संग्रह करने के लिए इस प्रकार की समितियाँ शीघ्र स्थापित होनी चाहिए और साथ ही एक केन्द्रीय परिषद् भी जिसकी अधीनता में कुछ स्वार्थत्यागी कार्यकर्ता नियमित रूप में काम करें...[2]

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की जनपदीय समिति

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हरिद्वार अधिवेशन (१६४२) में यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था—

"इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृति का निवास हमारे जनपदों में है। अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है, जो भारत के विभिन्न जनपदों की भाषा, पशु-पक्षी, वनस्पति, ग्रामगीत, जन-विज्ञान, संस्कृति, साहित्य तथा वहाँ की उपज का अध्ययन कराने की योजना उपस्थित करे। इस समिति में निम्नलिखित विद्वान हों—वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, अमरनाथ झा, चन्द्रबलि पांडेय, जैनेन्द्रकुमार, सत्येन्द्र। इस समिति को अधिकार होगा कि वह आवश्यकतानुसार अन्य सदस्यों को भी सम्मिलित कर ले, तथा जिस जनपद में वह काम करे। वहाँ के भी चार सज्जनों तक को इस समिति में सम्मिलित कर ले।"

इससे पूर्व कि यह समिति कोई कार्य हाथ में लेती, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और समिति के मन्त्री चन्द्रबलि पांडेय में विकेन्द्रीकरण के प्रश्न पर मतभेद उठ खड़ा हुआ। चतुर्वेदी जी ने समिति से त्यागपत्र दे दिया और समिति का स्वप्न दुर्भाग्यवश बीच में ही टूट कर रह गया।

---

१. 'कविता कौमुदी (पाँचवाँ भाग) : ग्रामगीत', सन् १६२६, पृ० ४३-४४ (भूमिका)।

२. 'मधुकर' (१ मार्च, १६४१) में प्रकाशित 'ग्राम-साहित्य' शीर्षक लेख से।

एशियाटिक फोक लिट्रेचर सोसाइटी
३३, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता
१५ अप्रैल, १९४८

प्रिय महोदय,

लोक-साहित्य और कला के क्षेत्र में अध्ययन के विकास की दृष्टि से हमने डा० वैरियर एलविन की अध्यक्षता में एक समिति बनाने का निश्चय किया है। हम आपको उपाध्यक्ष का पद स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित करते हैं। यह समिति अन्वेषण और प्रौढ़-शिक्षा के कार्य को संगठित करेगी और ग्राम-शिक्षा को पुनर्जीवित करेगी।

हमारी परिषद् की स्थापना सन् १९४३ में हुई थी। इस बीच में हम अपना कार्य-विवरण प्रकाशित कर चुके हैं। इस समय देश एक संकट में से गुजर रहा है और हम लुप्त सामग्री के अन्वेषण की व्यवस्था नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए हमने निर्णय किया है कि पुस्तकों और कला-सामग्री का संग्रह किया जाय, जो संग्रहालय और पुस्तकालय के निर्माण में सहायक होगा।

हमारी परिषद आपकी पुस्तकें प्राप्त करके आपकी अनुगृहीत होगी, जिनसे अन्वेषण में जुटे हुए विद्यार्थियों को बहुत सहायता मिलेगी। इससे वे अन्वेषण की आत्मा को पकड़ पायेंगे और भावी अन्वेषण कार्य को बल मिलेगा। स्वतन्त्र भारत में हम अपने अतीत की कीर्ति का उद्धार कर पायेंगे यदि हमें अपने आरम्भिक कार्य में अपना सहयोग और पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो।

भवदीय
गोपीनाथ सेन (मंत्री)[1]

लोकगीतों के रिकार्ड
देवेन्द्र सत्यार्थी

वस्तुतः सौभाग्य से हमारे बीच वैरियर एलविन और डब्ल्यू० जी० आर्चर मौजूद हैं जो गोंड और उरॉव लोकगीतों के अन्वेषण में बहुत बड़ी सेवा कर चुके हैं और ठीक अर्थों में भारतीय लोक-कविता की बहुमूल्य मणियों को विश्व के गीत-नकशे पर स्थान दिला पाये हैं, पर अब तो यह दायित्व भारतीय विद्वानों पर आ गया है कि वे इस महान् कार्य को राष्ट्रीय जागरण का एक अंग समझकर आगे बढ़ायें।

विभिन्न भाषाओं के लोकप्रिय लोकगीतों को हम मशीन की सहायता से क्यों रिकार्ड नहीं कर सकते? यही एक उपाय हो सकता है जिससे हम इस देश में लोक-संगीत का संरक्षण और विकास करने में सफल हो सकते हैं। इस दिशा में आल इण्डिया रेडियो कुछ सेवा करता आ रहा है। पर वह यथेष्ट नहीं है। हमें अवश्य एक पृथक् संस्था को जन्म देना चाहिए, अब जबकि भारत एक स्वतन्त्र देश है। इससे हम सर्वोत्तम वैज्ञानिक और सांस्कृतिक रूप से इस कार्य को कर पायेंगे जो एक महान राष्ट्र के अनुरूप होगा।

अब तो हमें लोकगीतों के संगीत-सम्बन्धी मूल्यों की ओर ही अधिक ध्यान देना होगा, क्योंकि लोकगीत मात्र कविताएं ही तो नहीं हैं।[2]

---

१. एक अँग्रेज़ी पद का हिन्दी रूपान्तर

२. 'नेहरू वर्थडे बुक' में प्रकाशित 'इण्डियन फोक सौंग्स' शीर्षक लेख से।

लोक-संस्कृति परिषद की स्थापना

नरेशचन्द्र

....सन् १९४६ में सर सीताराम एम० ए० डी० लिट् (सम्मानित), सभापति संयुक्त-प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा की अध्यक्षता में लोक-संस्कृति परिषद (एथनोग्राफिक एण्ड फोक कलचर सोसाइटी) की स्थापना हुई और तब से वह निरन्तर इस दिशा में कार्य कर रही है। उस संस्था की समय-समय पर बैठकें होती रहती हैं, जिनमें यह निश्चय हुआ कि उत्तर भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन की गवेषणा की जाय और संयुक्त प्रान्त में पाई जाने वाली जातियों और उपजातियों का विस्तृत विश्लेषण किया जाय। उसके साथ ही यह योजना भी बनाई गई कि लोक-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं का—जैसे संगीत, गीत, चित्र, कथाएं आभूषण और ऐसी वस्तुएँ जिनसे रीति-रिवाज के विषय में कुछ मालूम हो सके, संग्रह और सम्पादन किया जाय, उन्हें पुस्तकाकार में प्रकाशित किया जाय या म्यूजियम में सुरक्षित रखा जाय... सन् १९४६ में दो रिसर्च विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देकर संस्था ने गढ़वाल और कुमायूं के निवासियों और उनके जीवन के सम्बन्ध में खोज करने के लिए भेजा...[1]

अन्तर्जनपदीय परिषद

बनारसीदास चतुर्वेदी

जिन लोगों ने मैथिली, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी, ब्रजभाषा तथा अवधी इत्यादि के लिए कुछ कार्य किया है उनकी एक छोटी-सी परिषद् दिल्ली या मथुरा में बुलाई जा सकती है। चूँकि जनपदीय आन्दोलन के प्रवर्तक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल तथा पृथ्वीपुत्र श्री देवेन्द्र सत्यार्थी वहीं निवास करते हैं, और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के लिए दिल्ली कुछ दूर नहीं है, इसलिए वहीं पर सर्वश्री गणेश चौबे, रामइकबालसिंह 'राकेश', शिवसहाय चतुर्वेदी, सत्येन्द्र, गौरीशंकर द्विवेदी, हरगोविन्द गुप्त, रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', प्रभुदयाल मीतल, वंशीधर शुक्ल, कृष्णानन्द गुप्त प्रभृति कार्यकर्ताओं को बुलाया जा सकता है। विद्यापीठ (उदयपुर) तथा गढ़वाल से भी कुछ कार्यकर्ता शामिल हो सकते हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी भी वहाँ पधार सकें तो क्या कहना है। ग्रामगीतों का संकलन सब से प्रथम उन्होंने किया था और वे सम्मान के अधिकारी भी हैं। अब तक जो-कुछ भी जनपदीय कार्य हुआ है, उसका लेखा-जोखा इस परिषद् में उपस्थित किया जा सकता है...[2]

अखिल भारतीय लोकवार्त्ता परिषद

सत्येन्द्र

लोकवार्त्ता, लोक-कला और लोक-साहित्य का आज वैज्ञानिक महत्व संसार में स्वीकार किया जाने लगा है। लगभग सन् १८०० से विश्व के कुछ सूझ वाले व्यक्तियों की दृष्टि इस ओर आकर्षित हुई...ऐसे संग्रहों को प्रोत्साहन देने के लिए लोकवार्त्ता परिषदों, फोक लोर सोसा-

१. लखनऊ से प्रकाशित संयुक्त प्रान्तीय लोक-संस्कृति परिषद के मुख-पत्र 'प्राच्य मानव वैज्ञानिक' १९४८ का अंक, के सम्पादकीय 'परिचय' से।

२. 'नया समाज' (अक्तूबर १९४८) में प्रकाशित 'साहित्य-क्षेत्र का नव निर्माण' शीर्षक लेख से।

इटियाँ स्थापित की गईं। उनके द्वारा लोकवार्त्ता पत्र, फोकलोर मेगजीनें प्रकाशित की गईं।.....पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे देश में जो कार्य किये हैं वे अत्यन्त सावधानी से किये गये हैं, फिर भी उनकी अपनी सीमाएं थीं...

...आज यह अपेक्षित है कि—

(१) एक अखिल भारतीय लोक-साहित्य परिषद् या जनपद कल्याणी की स्थापना की जाय...

(२) एक लोक-कला संग्रहालय तथा पुस्तकालय स्थापित किया जाय...

(३) एक लोकवार्त्ता पत्रिका प्रकाशित करने की आवश्यकता है। लोकवार्त्ता परिषद् बुन्देलखण्ड से श्री कृष्णानन्द जी ने 'लोकवार्त्ता' पत्र निकाला था। वह इस अभाव की अच्छी पूर्ति कर रहा था। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हम लोग उस पत्र को जीवित न रख सके। उक्त केन्द्रीय परिषद् से यह पत्र पुनः प्रकाशित होना चाहिए...[1]

लोकगीतों के रिकार्ड, लोकनृत्यों की फिल्में

आर्येन्द्र शर्मा

देवेन्द्र सत्यार्थी की पुस्तक 'धीरे बहो गंगा' में श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

"लोकगीतों का साहित्य बहुत बड़ा है। पुर, जनपद और जंगल सब ही मानो जनता की गीतात्मक प्रवृत्ति से भरे हुए हैं। गीतों की दुनिया में कोल, भील, शबर, मुण्डा, उराँव, गोंड आदि वनों में रहने वाली आदिम जातियों का भी उतना ही बड़ा भाग है जितना कि शहरों में और बस्तियों में रहने वाली अन्य जनता का। अपनी-अपनी लय भी सबको समान रूप से प्रिय होती है।

"शीघ्र ही यह कार्य नियमित रूप से किसी संस्था को हाथ में लेना चाहिए...गीतों को गाने वालों के कण्ठ से ही पूरी ध्वनि और तान के भाव रिकार्डों में भर लेना चाहिए...आशा है निकट भविष्य में लोक-संस्कृति की कोई अधिष्ठात्री संस्था इस कार्य को अपने हाथ में लेगी...।"

इस सम्बन्ध में जहाँ तक हमें ज्ञात है, थोड़ा-बहुत फुटकर काम कुछ व्यक्तियों ने अथवा संस्थाओं ने किया है। कुछ समय पूर्व लन्दन के स्कूल ऑफ ओरिएण्टल एण्ड ऐफ्रिकन स्टडीज के अध्यापक श्री आर्नलड बाके ने, जो भारतीय लोक-संगीत के विशेषज्ञ हैं, कुछ लोकगीतों के रिकार्ड तैयार किये थे। ये रिकार्ड लन्दन की उपर्युक्त संस्था में सुरक्षित हैं। नृतत्त्व-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान डा० वेरियर एल्विन ने कुछ आदिवासियों के दैनिक जीवन तथा लोकनृत्यों की फिल्में तैयार की थीं, किन्तु ये मूक फिल्में हैं। आल इण्डिया रेडियो ने कुछ लोकगीतों के रिकार्ड बनाये हैं। हैदराबाद राज्य के सोशल सर्विस विभागों ने भी गोंडों के डडारी नृत्य की एक फिल्म तथा कुछ लोकगीतों के रिकार्ड तैयार किये हैं।

हाल ही में यूनेस्को (यूनाइटेड नेशन्स के शिक्षा विज्ञान-संस्कृति-संघ) के अन्तर्राष्ट्रीय

---

१. 'साहित्य सन्देश में प्रकाशित और 'आजकल' (नवम्बर १९५०) में उद्धृत 'लोक-साहित्य के संरक्षण की आवश्यकता' शीर्षक लेख से।

लोक-कला कमीशन ने एशिया के समस्त देशों के लोकगीतों को रिकार्डों में सुरक्षित करने की एक योजना बनाई है, और इसके लिए भारत के राज्यों तथा विश्वविद्यालयों से सहयोग की माँग की है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उस महान सांस्कृतिक कार्य को एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने अपने हाथ में लिया है, जिसे धन की कमी नहीं है। किन्तु लोक-कला कमीशन की योजना तभी सफल हो सकती है, जब प्रत्येक देश की सरकारें, विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाएं, विश्वविद्यालय तथा विशेषज्ञ इस कार्य में पूरा सहयोग दें। भारत में हैदराबाद राज्य तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय का सहयोग विशेष रूप से अपेक्षित है, क्योंकि इस प्रदेश में आदिवासियों की अनेक महत्वपूर्ण जातियाँ बड़ी संख्या में बसी हुई हैं, और इसके अतिरिक्त यहाँ कई संस्कृतियों का समन्वय भी हुआ है। उस्मानिया विश्वविद्यालय के नृतत्त्व विभाग के अध्यापक डा० श्यामाचरण दुबे इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। आशा है, विश्वविद्यालय तथा राज्य के अधिकारियों से डा० दुबे को सब तरह की सुविधा और सहायता प्राप्त होगी।

लोकगीतों के रिकार्डों के साथ-साथ लोकनृत्यों की फिल्में तैयार करने का काम भी कम महत्वपूर्ण नहीं···[1]

परिशिष्ट २

चौबीस पत्र

समय-समय पर मित्रों और हितैषियों से मुझे अनेक पत्र प्राप्त हुए। उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। इनसे मुझे प्रेरणा मिली और अपने कार्य में मेरा विश्वास भी बढ़ा।

: १ :

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

७. १२. '३४

प्रिय सत्यार्थीजी,

प्रणाम। काश्मीर जैसे सुन्दर स्थान में आपने मुझे स्मरण किया, इसके लिए धन्यवाद। यह जानकर मुझे सचमुच व्यथा हो रही है कि आप स्वास्थ्य की प्रेरणा से काश्मीर गये हैं। अवश्य ही काश्मीर का सौन्दर्य आपके स्वास्थ्य को सुख से भर देगा।

श्री पं० शिवनाथ शास्त्री का स्मरण दिलाकर आपने मुझे एक मधुर स्वप्न में पहुँचा दिया। वे बड़े सहृदय व्यक्ति हैं। आपका उनसे परिचय हुआ, यह अच्छा ही हुआ। आप वहाँ फाइनेंस मेम्बर मिस्टर बी० एन० मेहता साहब से भी मिलियेगा; वे ग्राम-साहित्य के भावुक, कई भाषाओं के अप्रतिम विद्वान हैं। मुझ पर बड़ा स्नेह रखते हैं; आप उनको मेरा स्मरण दिलायेंगे तो प्रसन्नता प्रकट करेंगे।

आप इधर से जाते-आते कम-से-कम एक ट्रेन मुझे दिया कीजिये। मैं स्वस्थ और सुखी हूँ।

आपका

रामनरेश त्रिपाठी

---

१. 'कल्पना' (फरवरी १९५१) की 'लोकगीत' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी से।

: २ :

लखनऊ
१५. २. १९३६

प्रियवर सत्यार्थी जी

नमस्कार। लखनऊ में होने वाली कांग्रेस में ग्राम-गीत, ग्राम-नृत्य और ग्राम-कथाओं के प्रदर्शन का भी प्रोग्राम रखा गया है। सम्भवतः पूज्य गांधीजी के आदेश से इस ओर विशेष दिलचस्पी ली जा रही है और इस कार्य का प्रबन्ध मेरे ऊपर दिया जा रहा है, पर मेरी माता का स्वास्थ्य अच्छा न रहने से मेरा अधिक समय उसके निकट देहात में लग रहा है। इस कार्य का भार लेने के लिए मैं आपको बहुत ही उपयुक्त पाता हूँ। आप कृपया लखनऊ आकर इस कार्य का सुचारु रूप से सम्पादन करें। उससे जनता का मनोरंजन ही न होगा, ग्राम-साहित्य की ओर उनको आकर्षित करने में आपको आशातीत सफलता भी होगी। मैं समय-समय पर आपसे मिलता रहूँगा और परामर्श देता रहूँगा। कृपया आप शीघ्र आने का विचार कीजिये। कांग्रेस की तरफ से आपको अलग पत्र जा रहा है।

आपका लेख 'हंस' में देखा। आप तो अद्भुत कार्य कर रहे हैं। जितना धन्यवाद आप को दिया जाय, थोड़ा है।

आप स्वस्थ और सुखी होंगे ही।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

: ३ :

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग
२४. ८. १९३५

परम स्नेही बन्धु सत्यार्थी जी,

कार्ड मिला। आनन्द से पूर्ण हो गया। आपके ग्राम-गीत तो सामयिक पत्रों में पढ़ता ही रहता हूँ। आप तो एक अन्धकारमय मार्ग में मुझे प्रकाश-स्तम्भ की तरह दिखाई पड़ रहे हैं। आपका परिश्रम स्तुत्य है।

आपके आदेशानुसार 'हिन्दुस्तानी कोष' आपके मित्र के नाम शीघ्र ही भिजवा दिया जायगा।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

: ४ :

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग
२२. ४. '४०

प्रिय सत्यार्थी जी,

आपका १७. ४. '४० का पत्र ऐन आपकी चर्चा के समय मिला। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार आपकी आयु बड़ी होगी, यह तो आप भी सुन चुके होंगे। कुछ समय पहले आप

प्रयाग आने वाले थे। आपकी प्रतीक्षा हो रही है, पर आप तो जान पड़ता है कि दक्षिण ही में रम गए। सारा परिवार साथ है तो जहाँ शाम हुई, वहीं घर हो गया। मुझे आपका वर्तमान जीवन बहुत प्यारा लग रहा है और स्पर्धा होती है, जैसे आपने मेरा जीवन छीन लिया है। मैं भी कभी घुमक्कड़ था, पर अब तो बाहर की अपेक्षा भीतर का वजन इतना बढ़ गया है कि हिलने-डुलने की इच्छा नहीं होती। बाहर का वजन ढोया जा सकता है, भीतर का नहीं। बहुत ही कम भाग्यशाली पुरुष होंगे, जिनमें एक आप हैं, जिनके भीतर का भार कम होता है।

ग्राम-गीतों के सम्बन्ध में जिस मार्ग पर चलाने की इच्छा मैं वर्षों से कर रहा था, उसे तो आपने नाप डाला। गीत-सम्बन्धी मेरी लालसा अवश्य मिट गई, पर घूमने की लालसा तो बढ़ती ही जा रही है। आपके साहस को धन्य है। आपकी सच्ची लगन इतिहास की वस्तु हो गई है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

आपके लेख मैं मासिक पत्रों में जहाँ पाता हूँ, बड़ी रुचि से सब पढ़ जाता हूँ। आपने ग्राम-साहित्य को समझा भी खूब है और उसे प्रकट करने की आपमें कला भी प्रशंसनीय है। आपकी यात्रा का रोचक वर्णन और गीत-संग्रह पुस्तकाकार में पढ़ने की उत्कट इच्छा है।

मैंने १९२५ में गीत-संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया था। उस लोहे जैसे नगण्य पदार्थ को आपने छूकर सोने का कर दिया है। इतने बड़े देश में हजारों संग्रह-कर्ताओं के उठ खड़े होने की मेरी कलक अब बुझ गई। हजारों तारे उठें चाहे न उठें, एक चन्द्रमा का उदय काफी है। इस क्षेत्र में आप ही पहले और आप ही अन्तिम होंगे। इतना परिश्रम कौन करेगा?

हिन्दी की दशा अवर्णनीय है। सचमुच उलहनाबाजी का कार्य बहुत सरल समझा जा रहा है। पतंगबाजी की मिसाल आपने बहुत ही चुभती हुई दी। वास्तव में हिन्दी के लेखक पतंग ही समझे जा रहे हैं।

लोकगीत से मैं ग्राम-गीत को अधिक सार्थक समझता हूँ। ग्राम-शब्द में जो पवित्रता है, वह 'लोक' में नहीं। शहर में भी जो गीत उपलब्ध होते हैं, वे भी ग्राम ही के हैं। उनकी भाषा और उनमें वर्णित विषय दोनों ही ग्राम के होते हैं। शहर वालों ने तो अभी कुछ किया ही नहीं। जो-कुछ उनका है वह छप चुका है और छपता ही रहता है। आप तो गाँव का ही साहित्य संग्रह कर रहे हैं। उसकी भाषा भी गाँव की ही है, अतएव ग्राम-गीत ही मुझे ठीक जान पड़ता है। कुछ लोगों ने 'ग्राम्य' लिखा है, वह गलत है। ग्राम्य का अर्थ तो 'गँवारू' हो जाता है। गुजराती में लोक शब्द का व्यापक अर्थ चल निकला है, हिन्दी में अभी यह कुछ अपरिचित-सा है। और जो सम्पत्ति आपको ग्रामों से मिल रही है, उसका यश उसीको मिलना भी चाहिए। इससे उसको क्यों वंचित करना चाहिये? नामकरण के समय मैं इस पर विचार कर चुका हूँ और मैंने 'ग्राम' शब्द ही उपयुक्त समझा। आगे आप जैसा उचित समझें।

इधर मैंने ग्राम-साहित्य पर एक नई पुस्तक लिखी है। एक प्रति भेजता हूँ। पहुँच लिखिएगा।

मेरा कोई चित्र, सिवा एक जेल के, मेरे पास नहीं है। क्या करूँ? क्षमा कीजिएगा।

आप सपरिवार सानन्द होंगे।

'स्वाभ' बन्द हो गया।

आपका स्नेहस्थ
रा० न० त्रिपाठी

: ५ :

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग
१२. ६. '४०

प्रिय देवेन्द्र जी, नमस्कार।

कोलम्बो में आपने मुझे स्मरण करके पत्र भेजा, इसके लिए बहुत अनुगृहीत हूँ।

'हमारा ग्राम-साहित्य' आपको पसन्द आया, इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। श्रीमती जी गाकर सुनायेंगी, तब उसका माधुर्य बढ़ जायगा।

मैं तीन बार रामेश्वरम् गया और तीनों बार सिंहल जाता-जाता रह गया। भाग्य की बात है।

ग्राम और लोक शब्द के बारे में आपने कुछ और खुलासा चाहा है। मैं इस पर काफी विचार कर चुका हूँ। ग्रामगीत शब्द का हिन्दी में आदि प्रवर्तक मैं हूँ। मुझ से पहले यह शब्द हिन्दी में इस अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ था। उस समय भी लोक शब्द था और गुजराती में लोकगीत शब्द भी चल निकला था। पर मुझे जो मिठास ग्राम शब्द में मिलती है, वह लोक में नहीं। लोक सीमा-रहित है। उसमें नगर भी शामिल हैं; पर ग्राम की एक स्वतन्त्र सीमा है, उसकी स्वतन्त्र मर्यादा है। उसकी एक निश्चित व्याख्या है। उसका कोई पर्यायवाची नहीं। गीत उसके रत्न हैं। हम उसका कण्ठ-हार उससे क्यों छीनें और उसकी कीर्ति का एक नया हिस्सेदार क्यों खड़ा करें, जिसने उसे गँवार समझ रखा है और बना भी रखा है। लोक में प्रचलित सारे मुहावरे और कहावतें अभी तक गाँव की फैक्ट्री ही में ढलकर आ रही हैं; अभी तक मुझे तो नगर से भाषा का एक भी आभूषण नहीं मिला। इससे मैं ग्राम का गौरव ग्राम ही के लिए सुरक्षित रखने के पक्ष में हूँ।

अंग्रेजी के 'फोक' शब्द में भी नागरिकता का भाव नहीं है। अतएव सब तरफ से मैं ग्राम ही के साथ रहूँगा, ग्राम में मेरा जन्म हुआ है। ग्राम की सभ्यता में मैं पला-पुसा हूँ, इससे ग्राम तो मुझे स्वभाव ही से प्रिय है। सम्भव है, इससे पक्षपात का दोष मुझ पर आयद हो, पर निष्पक्ष होकर भी ग्राम के पक्ष की दलीलों की अपेक्षा मैं नहीं कर सकता। मैं तो चाहूँगा कि आप भी ग्रामगीत शब्द ही का समर्थन करें और ग्राम के यश को उसके नाम के साथ ही लगा रहने दें।

'हिन्दी प्रचारक' (मद्रास) में मैंने आपके चरखे के गीत पढ़े हैं। बड़े ही उच्च-कोटि के गीत हैं। आपका संग्रह अद्भुत है। आप कोई संग्रह तैयार करके दें तो हम उसे अपने हिन्दी मन्दिर प्रेस से प्रकाशित करा देंगे।

कृपया श्रीमती जी को नमस्कार कहिये, और बच्ची को प्यार। कोलम्बो के समाचार कहीं छपावें तो मुझे भी सूचित करें। मुझे आपके लेख पढ़ने की बड़ी उत्सुकता रहती है।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

: ६ :

प्रयाग
७. २. '३५

प्रिय सत्यार्थीजी,

आपका पहली फरवरी का पत्र मिला। तिब्बती गीत मार्च की 'सरस्वती' में छप रहे हैं। आपको मिल जायगे।

'तिब्बत में सवा वर्ष' की एक भी कापी मेरे पास नहीं है। मैंने कई बार कहा पं० जयचन्द्र जी को भिजवाने के लिए; किन्तु कोई कापी नहीं आई।

आपके संग्रहीत गीतों को मैं पढ़ता रहता हूँ। आपकी लगन और विवेचन-शक्ति स्तुत्य है।

आपका
राहुल सांकृत्यायन

: ७ :

कलकत्ता
३. ११. '३५

तीन पैसे का तार

हार्दिक बधाई। मैं 'एशिया' द्वारा स्वीकृति पर पूरी तरह खुश हूँ।

बी० एम० वर्मा

पुनश्च

प्रिय सत्यार्थी जी,

पत्र मिला। नौसिखिया सिपाही होने पर भी 'राइफल के संगीत' की गोली 'एशिया' की टार्गेट पर ठीक जा कर लगी। इस शिकार के लिए बधाई है। 'एशिया' से पैसे वसूल कर किताब छपाने का सामान कीजिए।

मैं ११ अगस्त से १८ सितम्बर तक चँद हफ्ते बर्मा घूमता रहा। रंगून, मांडले, मेम्यो, पगान, प्रोम आदि देख आया। मांडले में गलियारा जी से और मेम्यो में चन्दोला जी से आपका जिक्र खैर हुआ था। मेरी डेक यात्रा का वर्णन अक्तूबर के 'विशाल भारत' में 'खुदाई का मास्टर पीस' में मिलेगा।

बर्मा से लौटने पर अत्यन्त व्यस्त हूँ। चतुर्वेदीजी छुट्टी पर हैं। दिल्ली पानीपत होते हुए लाहौर पहुँचे हैं। आज लाहौर से उनका पत्र आया है।

बर्मा मुझे बहुत पसन्द आया। विस्तृत चिट्ठी फिर लिखूँगा।

'एशिया' में आपकी रचना छपने से मुझे ऐसी ही खुशी है, जैसे स्वयं मेरी रचना छपने से होती।

विशेष कृपा

विनीत
ब्रजमोहन वर्मा

: ८ :

शान्तिनिकेतन
१६. १०. '३५

जीर्णाशीर्णा वट प्ररोह जटिलां कृष्णां तमाल प्रभाम्
तां मोहम्मद धर्म साधनपरां 'देवेन्द्रता' दायिनीम्
'सिक्खत्वं' च गुरुत्वमप्यधिगतां रामामनोहारिणीम्
ग्रामग्रामविहारी नागर नटीं दाढ़ीं प्रगाढ़ीं भजे ।

पुराने, दूर विस्तीर्ण बरगद के प्ररोहों के समान जटिल, काली-काली तमाल वृक्षों की प्रभा धारण किये हुए, *उस ग्राम-ग्राम विहरने वाले नागर की नटी गाढ़ी दाढ़ी की मैं वन्दना करता हूँ* जो एक ही साथ मोहम्मद धर्म साधन में भी तत्पर है, 'देवेन्द्रता' भी दे सकती है, सिक्ख (शिष्य) बनने में भी और गुरु बनने में भी समान रूप से सहायक है और जो रामाओं की मनोहारिणी भी है। *इति मंगलाचरणम् ।*

प्रिय सत्यार्थीजी महाराज, प्रणाम ।

कई कृपा-पत्र मिले । जवाब नहीं दिया । क्यों नहीं दिया, इसका एक कारण है । मगर क्या कारण है, वह बहुत देर तक सोच कर भी न समझ सका । सोचा था, कुछ बहाना बना दूँगा । मगर बड़ी देर सोचने पर भी जब बहाना नहीं सूझा तो सोचा एक गोल-मोल वाक्य लिख दूँ । सो लिख दिया । और सब कुशल है ।

'विशाल भारत' और 'माडर्न रिव्यु' में आपके दर्शन प्रायः ही हो जाते हैं । आपके ये लेख बहुत उत्तम कोटि के होते हैं । मैंने नाना श्रेणी के पाठकों को उन्हें पढ़ते देखा है । महात्मा जी ने आपकी प्रशंसा में जो वाक्य लिखे हैं, बहुत ठीक लिखे हैं । अब हम लोगों—मित्रों—के कहने लायक कोई बात बची ही नहीं । केवल एक बात कहने की रह गई है, वह यह कि 'भई, पक्के जर्नलिस्ट होते जा रहे हो ।'

आपकी 'खेघर की आजाद रूहें' बड़ी अच्छी रचना है । 'शिशु' के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिख सका । रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में लिखना मैंने एक प्रकार से बन्द-सा कर दिया है । आपको यथा समय पत्र न दे सकने के कारण मैं लज्जित हूँ । आलसी हूँ, मगर हूँ तो आपका छोटा भाई, खबर लेते रहियेगा । भाभी जी को प्रणाम और 'कविता' को प्यार । घर पर के सब लोगों का कुशल-समाचार दीजियेगा ।

शेष कुशल है ।

आपका
हजारीप्रसाद

: ९ :

शान्तिनिकेतन
१८. १. १९४०

कि सतार्थी भैया रे ।
पवलों तोरी चिठिया वजबलों रे बधौआ
कि सतार्थी भैया रे ।

तोरी डगरी अकेल कि सतार्थी भइया रे!
एक हम देखलों सरगवा विचवा रे,
एक सुरुज अकेल सरगवा विचवा रे!
दोसर हों देखलों सरगवा विचवा रे,
एक चँदवा अकेल सरगवा विचवा रे!
तीसरे हों देखलों दुनियवा विचवा रे
तोरी डगरी अकेल कि सतार्थी भइया रे!
कि सतार्थी भइया रे!

[अरे ओ सत्यार्थी भैया! पाई तेरी चिट्ठी, बजाया बधाव, कि अरे ओ सत्यार्थी भैया! तेरा (चलने का) रास्ता अकेले का रास्ता है, अरे ओ सत्यार्थी भैया!

एक मैंने देखा है सरग (आकाश) के बीच एक सूर्य (का रास्ता) अकेले का रास्ता है, दूसरा मैंने देखा सरग (आकाश) के बीच एक चाँद का रास्ता अकेले का रास्ता है। तीसरा मैंने देखा दुनिया के बीच तेरा रास्ता अकेले का रास्ता है—अरे ओ सत्यार्थी भैया!]

कि सतार्थी भइया रे!
पुरुब में गइलों पुछलों हाथ जोरि के
पुरवैया भैया रे,—
कहीं देखले कवनो दिलगीर कि पुरवैया भैया रे!
पछिम में गइलों पुछलों हाथ जोरि के
पछिउवा भैया रे
कहीं देखले कवने दिलगीर कि पछिउवा भइया रे!
दुनों कहे हंसिके बटोही भइया रे, कि बटोही भइया रे—
खाली एक दिलगीर से सतार्थी भइया रे!
ओकर डगरी अकेल कि सतार्थी भैया रे!

[पूर्व में मैं गया, हाथ जोड़ के पूछा कि अरे ओ पुरवैया भैया, कहीं कोई सहृदय तुमने देखा है? पश्चिम में मैं गया, हाथ जोड़ के पूछा कि अरे ओ पछिवा (पश्चिमी हवा) भैया, कहीं तुमने कोई सहृदय देखा है?—दोनों ने हँस के कहा कि अरे ओ बटोही भैया!—केवल एक ही सहृदय है और वह है सत्यार्थी भैया! उसका रास्ता अकेले का रास्ता है!—अरे ओ सत्यार्थी भैया!]

कि सतार्थी भैया रे!
उतर में गइलों हिमाले जी से पुछलों—हिमाले भैया रे!
कहीं देखले कवनो दिलगीर हिमाले भइया रे!
दक्खिन में गइलों समुंदर जी से पुछलों—समुदर भइया रे!
कहीं देखले कवनो दिलगीर कि समुदर भइया रे!
दुनों कहे हंसिके बटोही भैया रे कि बटोही भैया रे!
खाली एक दिलगीर से सतार्थी भइया रे!
ओकर डगरी अकेल कि सतार्थी भइया रे!

[उत्तर में मैं गया, हिमालय जी से पूछा—अरे ओ हिमालय भैया, तुमने कहीं कोई सहृदय देखा है ? दक्षिण में मैं गया, समुद्र जी से पूछा—अरे ओ समुद्र भैया, तुमने कहीं कोई सहृदय देखा है ? दोनों ने हँस के कहा कि अरे ओ बटोही भैया, केवल एक ही सहृदय है और वह है सत्यार्थी भैया। उसका रास्ता अकेले का रास्ता है—अरे ओ सत्यार्थी भैया !]

कि सतार्थी भैया रे !
लाख ढूँढे नोकरी करोड़ ढूँढे जियका—सतार्थी भैया रे !
देखलों सहस्सर बिलाला भइलें रे कि सतार्थी भैया रे !
लाख ढूँढे धरम करोड़ ढूँढे करम—सतार्थी भैया रे !
देखलों सहस्सर बिलाला भइले रे कि सतार्थी भैया रे !
केहू नाहीं गइलें अमृतवा की डगरी—सतार्थी भैया रे !
तोरि डगरी अकेल कि सतार्थी भैया रे !

[अरे ओ सत्यार्थी भैया ! लाखों नौकरी ढूँढ़ते हैं, करोड़ों जीविका ढूँढ़ते हैं—मैंने हजारों को बिलाला होते देखा है, अरे ओ सत्यार्थी भैया ! लाखों धर्म को ढूँढ़ते हैं, करोड़ों कर्म को ढूँढ़ते हैं—मैंने हजारों को बिलाला होते देखा है, अरे ओ सत्यार्थी भैया ! कोई अमृत के मार्ग पर नहीं गया। तेरा मार्ग अकेले का मार्ग है, अरे ओ सत्यार्थी भैया !!]

हजारीप्रसाद द्विवेदी

: १० :

२०, मुल्लन स्ट्रीट,
एलगिन रोड, पोस्ट आफ़िस, कलकत्ता
३. ५. '३७

प्रिय सत्यार्थी,

आपके २६ अप्रेल के पत्र के लिए अनेक धन्यवाद, जिसमें आपने 'हिन्दी फोक सौंगस'[1] की समालोचना भेजने का वचन दिया है।

कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन सम्बन्धी आपके लेख के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी मालूम न था। मैंने तो केवल यही जानना चाहा था कि 'पठान वार सौंगस' शीर्षक लेख का चेक आपको मिल गया या नहीं। मैं खुश हूँ कि 'एशिया' में आपका कांग्रेस सम्बन्धी लेख स्वीकृत हुआ है और सम्पादक ने इसे बहुत पसन्द किया है। कुछ ही दिनों के बाद मुझे उस लेख को पढ़ने का आनन्द प्राप्त होगा, ज्योंही मुझे वह अंक मिलता है।

यदि आपके पास कुछ और पठान युद्ध गीत हैं, उनके अतिरिक्त जो एशिया को भेज दिये, या युद्ध गीत नहीं तो पठानों के बारे में कोई दूसरी चीज, फोटोग्राफ्स के साथ, उनके बारे में लेख सामयिक और मनोरंजक रहेगा।

आशा है आप सानन्द हैं।

भवदीय
रामानन्द चैटर्जी[2]

१. ए० जी० शिरफ द्वारा सम्पादित और हिन्दी मन्दिर प्रयाग द्वारा प्रकाशित।
२. अंग्रेजी पत्र का हिन्दी रूपान्तर।

: ११ :

२०, मुल्लन स्ट्रीट, कलकत्ता
२१. ५. '३७

प्रिय सत्यार्थी,

अब मैं 'एशिया' के मई अंक में आपका लेख पढ़ चुका हूँ। यों लगा कि भीतर से कांग्रेस का प्रबल चित्र प्रस्तुत करने में आप सफल हुए हैं। यह बहुत ही मज़ेदार है। मैं अपनी राय श्री वालश को लिख चुका हूँ। विशेष रूप से मुझे आपकी वह बात पसन्द आई कि वे लोग जो ३०० मील पैदल यात्रा करके आये थे भोजन और पानी चाहते थे जबकि इसके स्थान पर उन्हें व्याख्यान दिये जा रहे थे।

शुभ इच्छाओं के साथ

भवदीय
रामानन्द चैटर्जी[1]

: १२ :

वर्धा
१८. ११. '३८

प्रिय देवेन्द्र जी,

अहमदाबाद नवजीवन प्रकाशन मन्दिर से 'लोकमाता' और 'जीवन भारती' दोनों किताबें मिल गई होंगी। 'जीवित त्योहार' छप रही है। मैं शीघ्र ही एक-दो दिन के लिए बड़ोदा जाने वाला हूँ—माणिकराव जी को मिलने पर आपके बारे में कहूँगा।

आपके जितने लेख मिल सकें एकत्र पढ़कर आपके बारे में गुजरात महाराष्ट्र के मासिकों में कुछ लिखना चाहता हूँ।

पूज्य बापू जी आजकल अत्यधिक काम में फँसे हुए रहते हैं। तो भी मैंने आपका प्रणाम उन्हें यहाँ से गाँव लिख भेजा है।

लोकगीतों के क्षेत्र कितने हैं, लोकगीतों के कितने विभाग पड़ते हैं, लोकगीतों के अध्ययन से राष्ट्र जीवन को किस-किस दृष्टि से पोषण मिल सकता है इत्यादि विषयों पर एक छोटा सा किन्तु सर्वांग परिपूर्ण एक लेख हमारे 'सर्वोदय' के लिए लिख भेज सकते हैं? अवश्य लिख भेजें।

काका कालेलकर
वन्दे मातरम्

: १३ :

भदई
२५ जून, १६४०

प्रियवर,

प्रणाम। १५ जून '४० का पत्र सामने है। आप कभी-कभी इस अपेक्षित किसान को

---

१. एक अंग्रेज़ी पत्र का रूपान्तर।

याद कर लिया करते हैं—(पत्र लिखकर ही सही), यह कम नहीं है।

आपके लेख मैं पूरी दिलचस्पी के साथ देखा करता हूँ। 'हंस' और 'विशाल भारत' मेरे यहाँ नियमित भेजे जाते हैं। 'गाये जा, ओ गुजरात' पढ़ा है।

जुलाई १६४० के 'विशाल भारत' में मेरा 'लोकगीतों के दौरे में' शीर्षक लेख पढ़ियेगा।

आप लंका पहुँच गये, यह आपने अच्छी खबर दी।

मेरे लेखों के कटिंग मँगाने का कार्य आपने किया या नहीं?

'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित 'उर्मिलाज स्लीप' शीर्षक लेख पढ़ा था। बहुत सुन्दर लिखा था आपने।

आप अपने अंग्रेजी लेखों के कुछ कटिंग भेजिए, जरूर। 'गिद्धा' अभी तक नहीं मिला। क्यों? भूल तो नहीं गए। आपके लेखों पर मैं एक विश्लेषात्मक निबन्ध लिखना चाहता हूँ। बशर्ते कि आप अपने लेखों के कुछ कटिंग भेजें।

पहली श्रावण तक बुन्देलखण्ड और व्रज के ग्रामगीतों के लिए यात्रा कर दूँगा। अगर जिन्दगी बाकी रही तो!

विनीत

राकेश

पुनश्च

अपना कुशल-क्षेम लिखते रहिये। 'हंस' में मैंने भी तीन लेख भेज दिये हैं। उत्तर जल्द दीजिए। 'विशाल भारत' के किसी अंक में आपने 'ग्रामगीत' शब्द इस्तेमाल किया था। क्यों? ग्रामगीत और लोकगीत में आप क्या अन्तर मानते हैं?

: १४ :

लखनऊ

५. ४. '४६

प्रिय श्री सत्यार्थीजी,

बहुत दिन बाद पत्र मिला पर मधु-सिंचित। बड़ी प्रसन्नता हुई। आपने उर्दू में 'पृथिवी-पुत्र' लिखा, यह हर्ष की बात है। इस समय मुस्लिम जगत् में इसी एक भाव की कमी है। 'मैं हूँ खानाबदोश' के लिए और दोनों पंजाबी पुस्तकों के लिए अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ। हिन्दी आपकी प्रतीक्षा उत्कंठित होकर कर रही है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अब आप निश्चिन्त होकर हिन्दी पुस्तक में जुट जायंगे। मैं आजकल पाणिनि के साथ फिर ध्यानस्थ हूँ। अगले मास अंग्रेजी पुस्तक तैयार करने के प्रयत्न में हूँ।

आप एक जगह टिके नहीं। फिर भी सच्चे पृथिवीपुत्र हैं। मैं इसी रूप में बहुत बार आपका विचार करता हूँ। ईश्वर आपकी तूफानी जिन्दगी को साहित्य के लिए पोसते रहें। यही चाहता हूँ।

सकुशल आपका

वासुदेवशरण अग्रवाल

: १५ :

टीकमगढ़
१८. २.४१

प्रिय सत्यार्थी जी,

चतुर्वेदी जी का तीन पैसे का तार पाकर मैं यहाँ १५ तारीख को पहुँचा। आपसे मिलने की बड़ी इच्छा थी, इसी उद्देश्य से मैं आया भी था। परन्तु दुर्भाग्यवश आपसे भेंट नहीं हो सकी। जिस परिस्थिति में आपको यकायक ही यहाँ से जाना पड़ा, उसका पूरा हाल जब सुना तो बड़ा दुःख हुआ। आशा है आप सकुशल पहुँचे और आपकी पत्नी एवं पुत्री आनन्द से हैं।

चतुर्वेदीजी के ज़रिए मालूम हुआ कि यहाँ आने का आपका एक मुख्य उद्देश्य ग्राम-गीतों का संकलन एवं सम्पादन था। यह भी मालूम हुआ कि आप एक ऐसा ग्रन्थ तैयार करना चाहते हैं जिसमें भारत के सभी प्रान्तों के ग्राम-गीतों का प्रतिनिधित्व मौजूद हो। ऐसी चीज़ सचमुच ही बड़ी महत्वपूर्ण रहेगी। परन्तु इस विषय में मेरा और चतुर्वेदी जी का एक और भी ख्याल था। इस कार्य के लिए यदि आप एक-एक प्रान्त को लेकर चलें तो वह और भी सुन्दर होगा। बुन्देलखण्ड के गीतों के संग्रह का जहाँ तक सम्बन्ध है, हम लोग सभी प्रकार से आपकी सहायता करने को तैयार रहेंगे। उसके बाद आप ब्रज-मण्डल को ले सकते हैं। इस प्रकार एक-एक प्रान्त को लेकर चलने से चीज़ बनती जायगी। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि आप ऐसा ही करें। इस विषय में आपको अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। तभी चीज़ ठीक बनेगी।

हम लोग आपके प्रोग्राम को जानने के लिए उत्सुक हैं। आप यहाँ आयें तो बड़ा आनन्द रहे। परन्तु इस बार आप थोड़ी निश्चिन्तता के साथ आइए। आपका जी चाहे तब तक कुण्डेश्वर रहिए, उसके बाद मेरा घर भी है। आप यहाँ आयें और एकाध महीने रहें तो हम दोनों के दिन ही बड़ी खुशी से कटें।

मैं यहाँ शिवरात्रि तक रहूँगा। उसके बाद अपने घर गरौठा (झाँसी) चला जाऊँगा।

आपका
कृष्णानन्द गुप्त

: १६ :

टीकमगढ़
१६-४-१९४१

प्रिय सत्यार्थी जी,

सादर प्रणाम। लगभग १५ दिन से मैं यहीं हूँ। सम्भव है कुछ दिनों के लिए स्थायी रूप से रहना हो। अभी आपके एक पत्र से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप थोड़े दिनों में ही यहाँ आने का विचार कर रहे हैं। कृपया आइये, अवश्य!

आप जब एक मर्तबा चिरगाँव आये, तब मुझ से अनातोल फ्रांस की 'लाइफ एण्ड लैटर्स' की चार जिल्दें पढ़ने के लिए ले गये थे। इधर चूँकि फिर पढ़ने-लिखने का कुछ इरादा कर रहा हूँ, इसलिए इन चारों जिल्दों की मुझे आवश्यकता थी। अतएव बड़ी कृपा होगी यदि आप उन्हें रजिस्टर्ड पार्सल से यहाँ मेरे पास भिजवा दें। अथवा यदि आप शीघ्र यहाँ आने का

विचार कर रहे हों तो स्वयं अपने साथ लेते आइये। आशा है आप सपरिवार सानन्द हैं।

आपका विनीत
कृष्णानन्द गुप्त

: १७ :

टीकमगढ़
२. २. '४२

प्रिय सत्यार्थी जी,

बहुत दिनों से आपका कोई कुशल पत्र हम लोगों को नहीं मिला। ऐसी भी क्या बात है? आप तो हमें बिल्कुल भूल ही गये।

इधर आपके लेख तो बराबर ही मासिक पत्रों में पढ़ने को मिलते रहते हैं। उनके द्वारा ही मानों आप से कुछ बातें हो जाती हैं। अन्यथा आपकी याद बराबर आती रहती है।

आपकी रचनाओं में जो एक विशेष प्रकार की कोमलता और लावण्यता होती है वह मुझे बहुत ही प्रिय है।

आपका स्नेही
कृष्णानन्द गुप्त

: १८ :

'लोकवार्ता' कार्यालय,
टीकमगढ़
२४. ६. '४४

प्रिय सत्यार्थी जी,

बहुत दिनों से आपका कोई पत्र नहीं मिला। आशा है आप सानन्द हैं।

अलग से 'लोकवार्ता' त्रैमासिक की प्रति सेवा में भेजी है, मिली होगी। आशा है देख कर और पढ़ कर प्रसन्न होंगे। इस पर अपनी शुभ सम्मति दें।

अगले अंक के लिए आपका लेख चाहिए ज़रूर। मेरा दृष्टिकोण तो आप समझ ही गये होंगे। उसका खयाल रखते हुए कुछ देवें।

आशा है आप सपरिवार सानन्द हैं।

आपका
कृष्णानन्द गुप्त

: १९ :

पाटनगढ़, तहसील डिंडौरी, जिला मंडला (सी० पी०)

बम्बई
२८ फरवरी, १९४४

मेरे प्रिय देवेन्द्र जी,

आपका पत्र पा कर बहुत आनन्द हुआ, क्योंकि यदि आप मुझे मेरी पुस्तकों द्वारा जानते हैं तो मैं अनेक वर्षों से आपके सुन्दर गीतों के माध्यम से आपसे परिचित हूँ और प्रेम करता आया हूँ।

मैं बम्बई से गुजर रहा हूँ, इसलिए मुझे आशा है आप मेरे संक्षिप्त उत्तर के लिए मुझे क्षमा करेंगे। मेरे लिए यह बहुत बड़े सम्मान की बात है कि आप मुझे अपनी नई पुस्तक का आमुख लिखने के लिए कह रहे हैं। मैं बहुत हर्षपूर्वक यह कार्य करूँगा, यदि आप मुझे पुस्तक तैयार होने पर इसकी एक एडवांस प्रति भिजवा सकेंगे। भेजने से पहले कृपया पता लगा लीजिए कि मैं कहाँ हूँ, क्योंकि यद्यपि उपर्युक्त पता सदैव पर्याप्त है। मैं अक्सर यात्रा में होता हूँ। आर्चर और मैं दोनों ही 'दि पलाउ एण्ड दि ड्रम'[1] को आपकी पुस्तक के लिए सर्वोत्तम नाम समझते हैं। वस्तुतः यह एक सर्वोत्तम नाम है—किसी भी प्रकार की पुस्तक के लिए जो दीर्घकाल तक सुनने में आया हो।

मेरी अपनी राय है कि यदि आप भाषाओं और भाषा-क्षेत्रों के अनुसार गीतों का विभाजन करें तो यह सर्वोत्तम रहेगा, इससे पाठकों को बहुत लाभ होगा। यदि आप इसे अध्यायों में विभाजित करेंगे तो प्रत्येक गीत के नीचे लघु उपशीर्षक देने की आवश्यकता न होगी।

अपनी पुस्तक 'दि आगरिया' पर मैं आपकी समालोचना का आदर करता हूँ। मुझे भय है कि 'माड़िया मर्डर' में बहुत कम कविता है, पर आपको यह जानकर खुशी होगी कि यह न्यायाधीशों को इन लोगों के प्रति व्यवहार करते हुए अधिक दयावान बनाने में अपना प्रभाव डाल चुकी है। न्याय और प्रेम ही तो कविता का हृदय है।

जब मैं आपसे मिलूँगा मैं स्वयं को एक तीर्थयात्रा की मंजिल पर पाऊँगा। यह शीघ्र हो।

स्नेहपूर्ण आदर सहित।

आपका
वैरियर एलविन[2]

: २० :

'प्रतीक'
१४ हेस्टिंग्स रोड, इलाहाबाद
१८. ३. '४७

प्रिय सत्यार्थी जी,

आपने वायदा किया था कि आप 'प्रतीक' के प्रथमांक के लिए कहानी देंगे, प्रथमांक अब प्रेस में जाने को तैयार है। हम लोग इलाहाबाद आकर जम गये हैं—मकान आदि लेकर—और कार्य नियमित रूप से आरम्भ हो गया है। आशा है कि आपका सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहेगा।

आप लौटती डाक से कहानी भेजिए। भविष्य में भी कब क्या भेज सकेंगे, सूचना दें तो अनुगृहीत हूँगा।

प्रत्येक स्वीकृत रचना पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था हम कर रहे हैं।

आशा है आप सानन्द हैं।

सस्नेह आपका
स० ही० वात्स्यायन

---

१. हल और ढोल।

२. एक अंग्रेजी पत्र का रूपान्तर।

'प्रतीक' वास्तव में मैगज़ीन नहीं, पीरियोडिकल बुक है। अतः सामग्री वैसी ही होनी चाहिए जो पुस्तक में जाय। चलतू चीजें हम नहीं माँग रहे; इसीलिए हर किसी से रचना नहीं माँगते।—'प्रतीक'

: २१ :

प्रयाग
७. १. ४८

प्रियवर,

नमस्कार। 'प्रतीक' (३. शरद्) में प्रकाशित आपकी रचना 'रंग' का पारिश्रमिक ३०) चेक द्वारा भेजा जा रहा है। कृपया स्वीकार करें और कार्यालय को उसकी पहुँच दें। साथ में चेक नं. ०१०२६५ : ३०)

आशा है आप प्रसन्न हैं। आगामी अंकों के लिए और कुछ अवश्य भेजें। आशा है 'प्रतीक' आपको पसन्द है। उस पर सम्मति अवश्य दें।

पब्लिकेशन्स डिवीजन में आपके जाने की बात सुनी थी—क्या हुआ उसका?

सस्नेह
स० ही० वात्स्यायन

: २२ :

टीकमगढ़
२७. ६. ४८

प्रिय सत्यार्थी जी,

सादर वन्दे। लेख आपको पसन्द आ गया। आपकी यह गुणग्राहकता है। कृतज्ञ हूँ।

आपने डॉक्टर शब्द मार्क किया या नहीं? मेरा ख्याल है कि आपके अपने लोकगीतों के अनुपम कार्य पर किसी भी प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय से डाक्टरेट मिल जानी चाहिये। उस में उक्त विश्वविद्यालय का ही सम्मान होगा। देखें किस यूनिवर्सिटी को यह गौरव मिलता है।

आपके प्रकाशकों ने क्या यह कसम खा रखी है कि वे मुझे आपके ग्रन्थों से सदैव वंचित रखेंगे?

और आपने 'लक्ष्मी' के आगमन की सूचना क्यों न दी—परिवार में नई बच्ची का आगमन। इस बात की शिकायत करने के लिए ही मैं दिल्ली आ सकता हूँ। कविता और 'लक्ष्मी' को आशीष।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

: २३ :

६ बेली रोड, प्रयाग
२८. २. ४६

प्रियवर सत्यार्थी जी,

'आजकल' के लिए आदेशानुसार रचना भेज रहा हूँ। कृपया स्वीकार कीजिए।

'धरती गाती है' आदि पुस्तकें मुझे मिल गई थीं। ऐसी सुन्दर कृतियों से हिन्दी साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि करने के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

आशा है आप सानन्द हैं।

आपका
सुमित्रानन्दन पन्त

: २४ :

एन्थ्रोपोलोजी म्यूजियम,
उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
१६. २. '५१

प्रिय सत्यार्थी जी,

कृपापत्र तथा 'आजकल' की प्रति के लिए धन्यवाद। लेख अच्छा छपा है। आपके सम्पादन से 'आजकल' को एक नया व्यक्तित्व मिल गया है। बधाई।

श्री आर्चर के व्याख्यान के उन अंशों की प्रतिलिपि भेज रहा हूँ, जिनमें आपका उल्लेख है। पत्रिका की एक प्रति के लिए लन्दन पत्र भेजा है। आते ही भेजूँगा।

अपनी हिन्दी पुस्तक 'मानव और संस्कृति' को पूर्ण करने में मैं इस समय व्यस्त हूँ। 'कल्पना' और 'राष्ट्र-भारती' का स्नेह तो आशा बनकर आने लगा है। 'भारतीय आदिवासियों का भविष्य' वाला यह लेख आपको कब तक चाहिए? क्या उसके साथ कुछ चित्र भी चाहिए? मैं एक नये लेख की रूपरेखा भी बना रहा हूँ। उसका शीर्षक होगा 'नृतत्ववेत्ता की प्रयोगशाला'। हलकी व्यक्तिगत शैली में मैं उसे लिखना चाहता हूँ। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, मैं उसमें नृशास्त्रीय अनुसन्धान के विभिन्न ढंगों की चर्चा व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर करना चाहता हूँ। क्या आप यह लेख छापना चाहेंगे? मुझे जल्दी नहीं है। तैयार करके मैं आपके पास भेज दूँगा, आप सुविधानुसार ही उसे प्रकाशित करें।

एक और विषय की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। यदि आप उचित समझें तो अपने समर्थ सम्पादकीय स्तम्भ द्वारा देश का ध्यान भारत की भिन्न-भिन्न लोक-संस्कृतियों के महत्त्वपूर्ण पर्वों की फिल्म बनाने की ओर आकृष्ट करें। विशेषकर लोक-नृत्यों, विवाह और धार्मिक संस्कारों की रंगीन तथा सादी फिल्मों का शीघ्र ही बनना आवश्यक है। साथ ही देश में प्रचलित लोकगीतों तथा लोकसंगीत की विभिन्न शैलियों के रिकार्ड भी बनने चाहिएँ। 'कल्पना' की सम्पादकीय टिप्पणी में यह प्रश्न उठाया गया है। मेरा आग्रह है कि आप भी उसे अपना समर्थन दें।

अन्तिम प्रार्थना आपको और भी विचित्र लगेगी। आपके मेरे सम्बन्ध व्यक्तिगत धरातल के हैं—लेखक सम्पादक मात्र के नहीं। भारतीय नृतत्त्व तथा लोक-संस्कृति के लिए जिन्होंने कार्य किया है मैं उनके चित्र एकत्रित कर रहा हूँ। बाद में म्यूज़ियम में एक गैलरी बनाने का इरादा है। आपसे प्रार्थना है कि अपना भी एक चित्र भेजें।

लीला की ओर से अभिवादन। मुकुल की ओर से प्रणाम।

आर्चर के व्याख्यान का अंश—

Art and Letters: Vol XXIV: No. 2. Second Issue for 1950. p 64.

..... Mr. Archer then pointed out that it was in the 1920s that the tremendous upsurge of national feelings evoked a new interest in traditional poetry, and amongs those who felt this need for a national literature was Devendra Satyarthi, a Hindu poet from the Punjab, who said that 'a nation reborn must be inspired by its folk-songs' "It was that passionate desire for a national literature that compelled Ram Naresh Tripathi to make his collection of Bhojpuri songs and Rakesh to record the songs of Mithila," said Mr. Archer. 'This was the moving force behind the work of Jasimuddin in Bengal, and it inspired Devendra Satyarthi to undertake *his famous journeys*, in which he would set off 'with scarcely a rupee' and hitch-hike from village to village all over India, coaxing peasants to sing their songs In this way he collected over 3 lakhs of songs." 1

आपका

श्यामाचरण दुबे

१. 'आर्ट एण्ड लेटर्स', वर्ष १४, अंक २, १६५० का दूसरा अंक, पृ० ६४.

...तब श्री आर्चर ने बताया कि सन् १६२०-३० में राष्ट्रीय भावनाओं के प्रबल आन्दोलन द्वारा परम्परागत कविता में एक नई रुचि उत्पन्न हुई, और राष्ट्रीय साहित्य की इस आवश्यकता को अनुभव करने वालों में पंजाब के हिन्दू कवि देवेन्द्र सत्यार्थी भी थे जिन्होंने कहा—'एक नये जन्मे राष्ट्र को अपने लोकगीतों से अवश्य ही अनुप्राणित होना चाहिए।' श्री आर्चर ने कहा—"राष्ट्रीय साहित्य की इस प्रबल आकांक्षा ने ही रामनरेश त्रिपाठी को भोजपुरी और राकेश को मिथिला के लोकगीतों को लिपिबद्ध करने के लिए प्रेरणा दी। बंगाल में जसीमुद्दीन के कार्य के पीछे भी यही क्रियाशील शक्ति थी, और इसी ने देवेन्द्र सत्यार्थी को अपनी प्रसिद्ध यात्राओं पर निकल पड़ने के लिए प्रेरणा दी, जिनमें मुश्किल से उनकी जेब में पैसा होता था और वे समस्त भारत में गाँव-गाँव घूमे फिरे, किसानों को अपने गीत गाने पर राजी करते हुए। इस प्रकार उन्होंने तीन लाख से अधिक गीत जमा किये।"

महानुभाव भी इस क्षेत्र में अवतीर्ण हुए जिन्होंने न केवल हिन्दी के ही वरन् देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोकगीतों का संकलन अपना उद्देश्य बनाया है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ऐसे ही कर्मठ विद्वानों में से हैं। हम अन्तःकरण से कामना करते हैं कि ईश्वर इस ऊबड़ पथ के मनस्वी पथिकों को कार्योचित बल, उत्साह और धैर्य दे।

....साहित्य के अन्यान्य विभागों में राजस्थान भारत के इतर प्रान्तों से चाहे कितना ही भिन्न हो, पर भाषा और लोकगीतों के क्षेत्र में हमें स्पष्टतः एक ऐसा व्यापक ऐक्य-क्षेत्र फैला हुआ मालूम होता है, जो उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक समरूप से प्रसारित है। गुजराती, राजस्थानी, मध्यप्रान्तीय, बिहारी गीतों में विलक्षण साम्य है...[1]

भाषाशास्त्र की दृष्टि से

बलदेव उपाध्याय

बँगला के विख्यात विद्वान डॉक्टर दिनेशचन्द्र सेन के सम्पादकत्व में केवल मैमनसिंह जिले से संग्रहीत लोकगीतों का संग्रह 'मैमनसिंह गीतिका' के नाम से एक भाग में प्रकाशित किया गया है, तथा पूर्वी बंगाल के अन्य जिलों से संग्रहीत गीतों का संग्रह तीन भागों में 'पूर्व-बंग-गीतिका' के नाम से कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया गया है।

गुजराती लोकगीतों के संग्रह, संरक्षण तथा प्रचारण में झवेरचन्द मेघाणी का नाम सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दी भाषा-भाषियों के ग्रामगीतों का संग्रह कर पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। आपने 'ग्राम-गीत' नाम से हिन्दी तथा हिन्दी से इतर भाषाओं के गीतों का संग्रह कविता-कौमुदी नामक ग्रन्थ में दो भागों (भाग ५, ६)[2] में किया है। हम लोग उनके इस कार्य के लिए चिर ऋणी रहेंगे। भोजपुरी ग्रामगीतों का यह संग्रह भी अपने विषय का सर्वप्रथम प्रयत्न है। स्त्रियों के मुख से ये गाने जिस प्रकार से सुने गये हैं उसी प्रकार से लिपिबद्ध किये गये हैं। संग्रहकर्ता ने इसे विशुद्ध तथा प्रामाणिक ढंग से संग्रहीत किया है जिससे भोजपुरी के भाषाशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए यह अनमोल सामग्री है।

अन्त में, इस प्रसंग में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम लिये बिना यह प्रकरण अधूरा ही रहेगा। उन्होंने भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूम-घूमकर लोकगीतों का अमूल्य संग्रह किया है और 'माडर्न रिव्यू' में समय-समय पर अपने इन गीतों के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किये हैं...[3]

संग्रह की प्रेरणा

श्यामाचरण दुबे

किसी भी भाषा के साहित्य में ग्राम-साहित्य का अभाव उसके लिए बड़ा कलंक है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी में ऐसे साहित्य का न होना उसके लिए बड़ा लज्जाजनक था। प्रसन्नता की बात है

---

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'राजस्थानी लोकगीत' (पृ० ४—६) से।

२. कविता-कौमुदी का केवल ५वाँ भाग ही प्रकाशित हुआ है, छठा भाग प्रकाशित नहीं हो पाया। दे० स०

३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'भोजपुरी ग्रामगीत', (सम्पादक कृष्णदेव उपाध्याय) की भूमिका (पृ० ११—१३) से।

कि अब साहित्यिकों का ध्यान इस ओर भी गया है; और हिन्दी का भण्डार उक्त विषयक पुस्तकों से भर रहा है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने इस दशा में नेतृत्व कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। सत्यार्थी जी ने देश के विभिन्न भागों में गीतों का संग्रह किया है और कर रहे हैं। वह हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है, और हमारा विश्वास है कि सत्यार्थी जी का नाम सदा के लिए अमर करने को यथेष्ट है...

इन पंक्तियों का लेखक छत्तीसगढ़ी नहीं है—उसकी मातृभूमि बुन्देलखण्ड है; किन्तु वह दीर्घ काल से छत्तीसगढ़ के संसर्ग में है......

लेखक अपने नौकर कोचया का कृतज्ञ है, जिसकी कुछ सरस पंक्तियों द्वारा उसे छत्तीसगढ़ी गीतों के संग्रह की प्रेरणा मिली...[1]

संस्कृति की चल-सम्पत्ति

सत्येन्द्र

भारत में प्राचीन रूढ़ियों का गढ़ ध्वस्त हो रहा है, और तीव्र गति से प्राचीनता पर से श्रद्धा उठती जा रही है; यदि इस समय लोकवार्ता का संकलन न किया जायगा तो संस्कृति की चल-सम्पत्ति में से बहुत-कुछ बहुमूल्य अंश नष्ट हो जायगा।

वस्तुतः जब अंग्रेज़ी में बहुत-कुछ लोकवार्ता का प्रकाशन हो चुका और कुछ अन्य देशी बोलियों में भी इस पर कार्य हुआ तब पं० रामनरेश त्रिपाठी का ध्यान इधर गया। उन्होंने ग्राम-गीतों का संग्रह कर अपनी कविता-कौमुदी का एक भाग तैयार किया। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी में तो लोकगीतों की आत्मा ही जग उठी। इन्होंने तो इसके लिए गृहस्थ होते हुए भी परिव्राजकता ग्रहण की। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक इन्होंने लोकवार्ता का संकलन और अध्ययन करने के लिए कष्ट उठा कर भी यात्राएँ कीं। हिन्दी क्षेत्र पर आपकी विशेष कृपा रही है।[2]

विश्व-संस्कृति का कल्याण-मार्ग

भगवतीलाल भट्ट

सैकड़ों वर्ष से प्रचलित मौखिक साहित्य अभी तक वृद्धों और वृद्धाओं की जबान पर अंकित है...अभी तक हमारा इतिहास सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अधूरा है...केवल वर्तमान की विभीषिका से उत्पन्न यान्त्रिक जीवन के ऊहापोहों से नई विश्व-संस्कृति का कल्याण मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

विश्व के अन्य हिस्सों में लोक-साहित्य के वैज्ञानिक विश्लेषण का अध्ययन-कार्य वर्षों से किया जा रहा है। परन्तु हमारे यहाँ अभी तक इने-गिने मनीषियों ने ही इस अनिवार्य आवश्यकता को अनुभव किया है, जिनमें गुजरात के स्वर्गीय मेघाणी जी और श्री देवेन्द्र सत्यार्थी हैं। इन दोनों ने लोक-साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम सफलता प्राप्त की है। आजकल राजस्थान में भी लोक-साहित्य को प्रकाश में लाने का कार्य कुछ व्यक्ति कर रहे हैं...[3]

---

१. 'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' (१९४०,) की भूमिका (पृ० ७—६) से।

२. 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' की भूमिका (पृ० ४) से।

३. 'शोध-पत्रिका' (दिसम्बर १९५१) की एक सम्पादकीय टिप्पणी से।

परिशिष्ट ४
अंग्रेजी माध्यम

स्थानाभाव के कारण अंग्रेजी माध्यम द्वारा भारतीय लोकवार्ता-सम्बन्धी कार्य की पूरी सूची यहाँ प्रस्तुत नहीं की जा सकी। अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'मीट माई पीपल' (पृ० २६७-६१) में मैंने निम्नलिखित टिप्पणी के साथ इस लम्बी सूची को प्रस्तुत किया है—

"गत एक शताब्दी में भारतीय लोकगीतों पर अंग्रेजी भाषा में अबाध गति से जो महत्त्वपूर्ण कार्य होता रहा है, वह विश्व की लोकवार्ता को एक अनूठी देन है। यह उल्लेखनीय है कि इस दिशा में भारतीयों के सम्पर्क में आने वाले विदेशी विद्वानों ने ही पहल की। बाद में बहुत से भारतीय विद्वानों ने भी इस कार्य में योगदान दिया। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य के बारे में यहाँ पूरी जानकारी उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है, फिर भी हो सकता है कि इस सूची में कुछ उल्लेख छूट गये हों।

"भारतीय लोकगीत-आन्दोलन के समग्र विस्तृत क्षेत्र पर दृष्टि रखना आवश्यक है, जिसका उद्गम नृतत्त्वशास्त्र के क्षेत्र में हुआ। भारतीय लोक-कविता भारत की भावी कविता को अवश्य ही प्रभावित करेगी, क्योंकि इसमें भारतीय आत्मा की सच्ची मौलिकता और जनता की सामूहिक प्रतिभा की व्यापक जाग्रत भावना निहित है। यही वह दृष्टिकोण है जिससे राष्ट्रीय जागरण की किसी भी योजना में भारतीय लोकगीतों पर किया गया कार्य और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, भले ही वह कार्य विदेशी माध्यम द्वारा ही किया गया था। भारत को उन मनीषियों पर गर्व करना चाहिये जिन्होंने सर्वप्रथम भारतीय लोक-कविता की शक्ति की खोज की और इस प्रकार स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के लिपिबद्ध संग्रह की नींव रखी।"[१]

परिशिष्ट ५
भारतीय माध्यम

भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा किये गये कार्य की सूची भी स्थानाभाव से यहाँ प्रस्तुत नहीं की जा सकी। 'मीट माई पीपल' (पृ० २६२-६७) में यह सूची निम्नलिखित टिप्पणी के साथ प्रकाशित की जा चुकी है—

"भारतीय भाषाओं में लोकगीत-सम्बन्धी पुस्तकों से ज्ञात होता है कि भारतीय लोकगीत आन्दोलन की जड़ें इस धरती में बहुत गहरी चली गई हैं। भारतीय भाषाओं की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होने वाले लेखों की सूची को यहाँ सम्मिलित न किये जा सकने के दो कारण हैं—प्रथम तो स्थान का अभाव और दूसरे असमानता से बचने के लिए, क्योंकि कई भाषाओं की एक लम्बी सूची उपलब्ध थी जबकि कुछ की सूची पर्याप्त मात्रा में जमा न की जा सकती थी।"[२]

---

१. 'मीट माई पीपल' (चेतना प्रकाशन, हैदराबाद, १९५१), पृ० २६७।
२. वही, पृ० २६२।

निर्देशिका